MAPH-101

भारतीय दर्शन का परिचय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – एक : वेद और उपनिषद् **03–38**

इकाई 1 – वेद और उनकी अपौरूषेयता
इकाई 2 – वेदों में दार्शनिक तत्व
इकाई 3 – उपनिषदों का दर्शन : आत्मन का स्वरूप
इकाई 4 – जगत और ब्रहम

खण्ड – दो : भारतीय दर्शन **39–70**

इकाई 1 – ज्ञानमीमांसा
इकाई 2 – तत्वमीमांसा
इकाई 3 – आचार मीमांसा

खण्ड – तीन : भारतीय दर्शनशास्त्र **71–104**

इकाई 1 – अनेकान्तवाद एवं द्रव्य सिद्धान्त
इकाई 2 – जैन दर्शन का स्याद्वाद या सप्तभंगीयनय
इकाई 3 – जैन आचारमीमांसाः बन्धन और मोक्ष

खण्ड – चार : भारतीय दर्शन **105–152**

इकाई 1 – बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय
इकाई 2 – प्रतीत्यसमुत्पाद
इकाई 3 – क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद
इकाई 4 – निर्वाण और बोधिसत्व का सिद्धान्त

MAPH-101
भारतीय दर्शन का परिचय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 1

वेद और उपनिषद्

इकाई – 1 05–10

वेद और उनकी अपौरूषेयता

इकाई – 2 11–18

वेदों में दार्शनिक तत्व

इकाई – 3 19–28

उपनिषदों का दर्शन : आत्मन का स्वरूप

इकाई – 4 29–38

जगत और ब्रहम

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.–101(MAPH-101)

सरंक्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह – कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

डॉ.आर.पी.एस. यादव	–	निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.)	–	दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो.दीप नारायण यादव	–	दर्शनशास्त्र विभाग, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. द्वारिका	–	विभागाध्यक्ष, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. सभाजीत यादव	–	दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

लेखक

प्रो. सुरेन्द्र वर्मा	–	सेवानिवृत्त, 10 एचआईजी / 1 सर्कुलर रोड, प्रयागराज।
डॉ. श्यामकान्त	–	असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला0 वि.वि. प्रयागराज।
डॉ. अतुल कुमार मिश्र	–	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

सम्पादक

प्रो. जटाशंकर	–	पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

परिमापक

प्रो. आर.पी.एस. यादव	–	निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

समन्वयक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र	–	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

2023 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि अण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 211021

प्रकाशक – कुलसचिव, विनय कुमार, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज –2023

मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी, मथुरा – 281003.

इकाई 1

वेद और उनकी अपौरुषेयता

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.3 वेदों का सामान्य परिचय

1.4 वेदों की अपौरुषेयता

1.5 सारांश

1.6 शब्दावली

1.7 प्रश्नावली

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य आपको वेदों का सामान्य परिचय देना है–

- ❖ इसमें आप उनकी प्राचीनता के बारे में जान पाएंगे।
- ❖ उनकी विषय सामग्री क्या है, यह समझ सकेंगे।
- ❖ उनकी संख्या के बारे में जानकारी ले सकेंगे।
- ❖ उनके मन्त्रों के विषय में मोटे तौर पर जानकारी प्राप्त कर सकें ।
- ❖ इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह भी जान पायेंगे कि वेदों को अपौरूषेय क्यों कहा गया है ।

1.1 प्रस्तावना

वेद भारतीय दर्शन के आदि ग्रन्थ हैं। वेदों की जानकारी के बिना भारतीय दर्शन को समझ पाना अत्यंत कठिन हैं। पूरा भारतीय दर्शन वेदों की नींव पर ही खडा है। वे दर्शन भी, जो वेदों को नहीं मानते, वे भी वेदों की प्रतिक्रिया स्वरूप ही अस्तित्व में आये हैं। वेदों में ज्ञान का भण्डार है। तथापि इनका मुख्य स्वर दार्शनिक है। वेद अपुरुषेय कहे गए हैं अर्थात् इन्हें किसी पुरुष (व्यक्ति) ने नहीं लिखा है। वेदों का आदिमूल परमेश्वर को माना जाता है ।

1.3 वेदों का सामान्य परिचय

वेदों का मुख्य स्वर दार्शनिक है, वेद भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनमें विशाल ज्ञान भण्डार है। इनका मुख्य स्वर दार्शनिक है और ये दार्शनिक दृष्टि से शायद सबसे महत्वपूर्ण भी हैं। किन्तु ये विशुद्ध रूप से दार्शनिक ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते। दर्शन के अलावा धर्म और कर्म की चर्चाएँ भी इनमें मिलती हैं। अपने समय के ज्ञान और विज्ञान का भी इनमें अच्छा वर्णन है। इतना ही नहीं, वेद साहित्यिक कृतियाँ हैं। इनमें काव्यात्मकता भी है। वे काव्यात्मक साहित्यिक कृतियाँ हैं। वेदों में मन्त्र हैं ।

वेदों में प्रायः मन्त्रों द्वारा बात कही गई है। साधारणतः वेदों से मन्त्रों का ही बोध होता है । ये मन्त्र स्त्रोतों या स्तुति के रूप में हैं। ये स्तुतियाँ किसी न किसी देवता को अर्पित प्रार्थनाएं हैं। वस्तुतः इन्हीं मन्त्रों, स्त्रोतों, प्रार्थनाओं का संकलन वेदों में मिलता है। इन्हें वेद–मन्त्र कहा जाता है। अनेक वेद–मन्त्र गेय हैं। इन्हें गाया जा सकता है किन्तु अनेक मन्त्र गद्य रूप में भी हैं ।

वेदों की संहिताएँ वेद संख्या में कुल मिमाकर चार हैं। परम्परा के अनुसार इन संहिताओं के नाम इस प्रकार हैं–(१) ऋग्वेद, (२) सामवेद, (३) यजुर्वेद और (४) अथर्ववेद। संहिताओं का यह नामकरण वेदो में संकलित मन्त्रों की प्रकृति और विषय के आधार पर किया गया है। ऋग्वेद के मन्त्र श्लोकों के रूप में हैं। इन्हें सस्वर पढ़ा जाता है। सामवेद के मन्त्र गेय हैं। वे गाए जाते हैं। यजुर्वेद के मन्त्र छंद बद्ध न होकर गद्य रूप में हैं और वे यज्ञों में आहुतियाँ देते समय पढ़े जाते हैं। इन्हें श्लोक कहा गया है। अथर्ववेद में संसार के विभिन्न विषयों के बारे में व्यापक ज्ञान मिलता है। अथर्ववेद को छोड़ कर बाकी तीन वेदों को मिलाकर 'वेदों की त्रयी' बनती है। यह शायद इसलिए कि यही तीन वेद दार्शनिक दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण हैं। ऋग्वेद सबसे पुरानी संहिता है और यही दार्शनिक दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण भी है।

वेदों के तीन भाग

प्रत्येक वेद को तीन भागों में बांटा गया है –मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद् । मन्त्रों (स्त्रोतों) के संकलन को 'संहिता" कहा गया है । 'ब्राह्मणों' में नैतिक परामर्श और धार्मिक कर्तव्यों का समावेश है । ब्राह्मणों के निष्कर्ष रूप में 'उपनिषद्' और 'अरण्यक' हैं। इनमें दार्शनिक समस्याओं को उठाया गया है । समस्त भारतीय दर्शन जो बाद में विकसित हुआ, उसकी पृष्ठभूमि के रूप में उपनिषदों को देखा जासकता है। आरंभिक उपनिषद् जैसे 'ऐतरेय' और 'कौषीतकी' ऋग्वेद के उपनिषद हैं। 'केन' और 'छान्दोग्य' सामवेद के हैं। 'ईश' 'तैत्तिरीय' तथा 'बृहदारंण्यक' यजुर्वेद के बताए गए हैं। इसी प्रकार 'प्रसन्न' और 'मुण्डक' अथर्ववेद के उपनिषद् हैं ।

सारणीं

वेद	उपनिषद्
ऋग्वेद	.... ऐतरेय और कौषीतकी
सामवेद	.... केन और छान्दोग्य
यजुर्वेद	.... ईश, तैत्तिरीय और बृहदारंयक
अथर्ववेद	.... प्रसन्न और मूंडक

आरण्यकों का स्थान ब्राह्मणों और उपनिषदों के बीच का है । ये, जैसा की नाम से स्पष्ट है, वानाप्रस्थियों के लिए ध्यान के विषय हैं। उपनिषदों के सर्जक कतिपय दार्शनिक हैं। स्त्रोत जो काव्य सर्जनाएं हैं, ब्राह्मणों और पुरोहितों की कृतियाँ हैं।

1.4 वेदों की अपौरुषेयता

वेद भारतीय मनीषा के प्राचीनतम साहित्यिक–ऐतिहासिक दस्तावेज हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश वैदिक काल के बारे में हमारी जानकारी बहुत कम है। इसके कई कारण हैं। एक तो ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव है, दूसरे इतिहास के प्रति प्राचीन भारतीय दृष्टि सदैव उदासीन भी रही है। इसीलिए वैदिक काल के बारे में प्रमाणिक रूप से कुछ कह पाना बड़ा कठिन है।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि वेदों के रचयिता कोई नहीं हैं। वेदों में जो सत्य विद्या है उन सबका आदि मूल परमेश्वर है। इसीलिए आर्य समाज के संस्थापक, स्वामी दयानंद, ने कहा है कि वेदों का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना आर्यों का परम धर्म है। वस्तु स्थिति यह है कि गुरु–शिष्य परम्परा द्वारा अनादि काल से वेद–मन्त्रों को सुरक्षित रखा गया है। इसीलिए इन्हें "श्रुति' भी कहा गया है। वेदों के रचयिता साधारण मनुष्य न होकर ऋषि–मुनि हैं जिन्होंने अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त किया है, परम–तत्व का साक्षात करके ऋषियों ने उसे वेद–मन्त्रों के रूप में अभिव्यक्ति दी है, भारतीय आस्तिक दर्शनों में तो उन्हें प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। कहते हैं कि ईश्वर ने आरम्भ में चार ऋषियों को वेदों का ज्ञान दिया था। अग्नि (देव) को ऋग्वेद वायु (देव) को यजुर्वेद आदित्य (देव) को सामवेद और अंगीरा (देव) को अथर्ववेद। फिर इन ऋषियों ने अन्य ऋषि–मुनियों और मनुष्यों को उपदेश दिया। वेदों की वाणी भी देव–वाणी कही गई है। इसी देव–वाणी से संस्कृत निकली है तथा संस्कृत से अन्यान्य भाषाएँ बनीं।

1.5 सारांश

वेद भारतीय दर्शन के आदि ग्रन्थ हैं।

- ❖ उनमें काव्यात्मक साहित्य है किन्तु उनका मुख्य स्वर दार्शनिक है।
- ❖ वेद–मन्त्र स्त्रोतों और स्तुतियों के रूप में हैं। इनमें देवताओं की प्रशंसात्मक स्तुति है।
- ❖ कुछ वेद–मंत्र गेय हैं कुछ गद्य–रूप हैं। जिन्हें मन्त्र श्लोक कहलाते हैं और उन्हें हवन करते समय सस्वर पढ़ा जाता है।
- ❖ वेदों की चार संहिताएँ हैं ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद। यजुर्वेद को छोड़कर बाकी तीन संहिताएँ "वेदत्रयी" कही जाती हैं। ऋग्वेद सबसे पुरानी संहिता है और दार्शनिक रूप से सबसे महत्वपूर्ण भी है।
- ❖ हर संहिता के तीन भाग हैं मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद्।
- ❖ वेद से सम्बंधित उपनिषदों में वेद में चर्चित दार्शनिक समस्याओं को उठाया गया है।
- ❖ वेदों को अपौरुषेय कहा गया है क्योंकि ऐसा माना जाता है की वेद किसी पुरुष ने नहीं लिखे हैं। उनका आदिमूल परमेश्वर है। जिन लोगों ने

परमात्मानुभूति कर ली उन्होंने अपने इसी अनुभव को वेद–मन्त्रों में अभिव्यक्ति दी है। ये वेदमंत्र एक ऋषि से दूसरे ऋषि–मुनियों तक पहुंचे और अंततः साधारण मनुष्यों तक उनकी पहुँच हो गई।

शब्दावली –

1. वेद–वेदमन्त्रों की संहिता
2. अपौरुषेय जो (लेखनध्कथन) किसी व्यक्ति पुरुष का न हो। जिसके मूल में ईश्वर हो।
3. मन्त्र, वेद का संहिता भाग। वह शब्द समूह जिसे अलौकिक शक्ति या सिद्धि प्राप्त हो।
4. संहिता वेद मन्त्रों का संकलन।
5. श्लोक यज्ञ में पढ़े जाने वाले मन्त्र होते हुए भी इनका सस्वर पाठ किया जाता है।
6. ब्राह्मण वेदों का दूसरा भाग। नैतिक वार्ताएं और धार्मिक परामर्श से सम्बंधित।
7. उपनिषद् वेदों का तीसरा भाग। दार्शनिक विवेचन से सम्बंधित।
8. "श्रुति" जो सुनकर याद रखी गई हो।
9. देववाणी वेदों की भाषा जिससे संस्कृत निकली।
10. आस्तिक दर्शन भारत के वे दार्शनिक सम्प्रदाय, जो वेदों को प्रमाण रूप में स्वीकार करते है।

1.7 प्रश्नावली

लघु–उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए–

(1) वेदमन्त्र

(2) वेदों की ऐतिहासिकता

(3) वेदवाणी

(4) वेद के तीन भाग

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

(1) वेदों का सामान्य परिचय दीजिए।

(2) वेदों को अपौरुषेय क्यों कहा गया है ? वेदोंमन्त्रों को कहने वाले कौन थे?

(3) वेदों को श्रुति क्यों कहा गया है? स्पष्ट कीजिए।

(4) वेदों की विषय सामग्री पर एक निबंध लिखिए

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

रिक्त स्थानों को भरिये {कोष्टक में दी गए शब्दों में से–}

(1) वेद साहित्यिक–काव्यात्मक कृतियाँ हैं, किन्तु उनका मूल स्वर ,,,,,,,,,,,,,,,,,,है। (गद्यात्मक दार्शनिक)

(2) वेद में देवताओं की –––––––––––– की गई है। (स्तुति / भर्त्सना}

(3) वेदों के रचयिता साधारण पुरुष न होकर स्वयं ––––––––––––––हैं। (देव–पुरुष / परमात्मा)

(4) वेदों की भाषा –––––––––––––है। (संस्कृत / देवभाषा)

1.8 Books–

(1) Sharma] C-D- : A Critical Survey of Indian Philosophy (Hindi translation also available)

(2) Hiriyanna] M : Outlines of Indian Philosophy (Himdi translation also available)

****

इकाई 2

वेदों में दार्शनिक तत्व

<u>इकाई की रूपरेखा</u>

2.0 इकाई का उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 वेदों में एकत्ववाद

2.3 ऋत का सिद्धांत

2.4 वैदिक देवता

2.5 विश्वोत्पत्ति

2.6 सारांश

2.7 शब्दावली

2.8 प्रश्नावली

2.9 पाठ्य पुस्तकें

2.0 इकाई का उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में हमारा उद्देश्य आपको वेदों के दार्शनिक पक्ष से अवगत कराना है। यों तो वेदों में ज्ञान का भण्डार है किन्तु हम यहाँ उसके केवल दार्शनिक सूत्रों को ही पकड़ने का प्रयत्न करेंगे। वेदों में हमें कोई भी स्पष्ट और सुनिश्चित दार्शनिक सिद्धांत नहीं मिलता लेकिन जैसा की हम पिछली इकाई में वेदों का सामान्य परिचय देते हुए बता चुके हैं कि वैदिक चिंतन कुल मिला कर अध्यात्म–वाद और एकत्ववाद की ओर ही स्पष्ट संकेत देता है। प्रस्तुत इकाई में हम इसी दिशा की ओर और अधिक आगे बढ़ेंगे।

2.1 प्रस्तावना

वेदों में अनेक दार्शनिक सूत्र बिखरे पड़े है। उन्हें व्यवस्थित कर एक दार्शनिक–तंत्र का निर्माण करना, कठिन ही नहीं, बल्कि लगभाग असंभव ही है। हम यहाँ केवल कुछ प्रमुख वैदिक अवधारणाओं को स्पष्ट करना चाहेंगे। वे हैं (१) वेदों में एकत्ववाद (२)ऋत का सिद्धांत (३) वेदों में देवताओं का स्वरूप और (४) विश्वोत्पत्ति।

2.2 एकत्ववाद

वैदिक साहित्य का प्रमुख दार्शनिक स्वर आध्यात्मिक और एकत्ववादी है यथापि वैदिक साहित्य में किसी एक दार्शनिक सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया गया है किन्तु उसका प्रमुख स्वर अध्यात्मवाद और एकत्ववाद है। ऋग्वेद में अनेक देवताओं की आराधना की गई है। उससे ऐसा प्रतीत होता है मानों बहुदेववाद की वहां प्रतिष्ठा की गई हो,किन्तु ऐसा नहीं है। ऋग्वेद के सभी देवता एकमेव परमात्मा की ही अभिव्यक्तियाँ हैं और एक जो परम है, वही अंतिम सत्ता है। देवताओं के माध्यम से परमात्मा की ही आराधना की गई है ।ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेद में कहा गया है, "एकं सद्विप्रा बहुदा वदन्ति,... "अर्थात, एक ही सत्ता को अनेक प्रकार से कहा गया है, कोई अग्नि कोई यम कोई वायु कहता है इत्यादि। वेदों में इस एकत्ववाद की झलक हमें सर्वत्र दिखाई देती है। प्रसिद्ध पुरुष सूक्त में कहा गया है कि एक ईश्वर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इस ईश्वर को विश्व में निहित और विश्वातीत, दोनों ही बताया गया है। वेदों में इसी एकेश्वरवाद की परिणति उपनिषदों में एक्तत्ववाद में हुई है। पाश्चात्य व्याख्याकारों की वैदिक व्याख्या पूर्वाग्रह युक्त है।

वेदों के अधिकतर पाश्चात्य व्याख्याकारों ने, और उनका अनुगमन करते हुए कतिपय भारतीय व्याख्याकारों ने भी,वेदों को गड़रियों के गीत कहकर उसका मजाक उड़ाया है। उनका मानना है कि वेदों में प्रकृतिवादी और बहुदेववादी दार्शनिक प्रवृत्तियों का समावेश है। जबकि वास्तव में जैसा कि हम बता चुके हैं, वेदों में ऋषियों द्वारा अनुभूत सत्यों की अभिव्यक्ति हुई है। वे गड़रियों के गीत नहीं हैं और न हीं वे भौतिकवादी और बहुदेववादी हैं।

वस्तुतः इस अवधारणा को कभी मान्य नहीं किया जा सकता। इसके पीछे पाश्चात्य व्याख्याकारों का यह पूर्वाग्रह रहा है कि मूल आर्य जाति के लोग जब भारत आए और यहाँ बसने लगे तब वे असभ्य और बर्बर थे, यदि नहीं भी थे तो भी उनकी सभ्यता इतनी विकसित नहीं थी कि उसे आदिम नहीं कहा जा सके। प्रकृति की कभी मनभावन और कभी भयानक गतिविधियों को देखकर वे आश्चर्य में पड़ जाते थे और फिर, उनका मानवीकरण कर उन्हें देवता बना देते थे तथा उनकी स्तुति, प्रार्थना पूजा करने लगते थे। पाश्चात्य व्याख्याकारों के अनुसार वेदों में हमें यही प्रकृतिवाद और मानावारोपित बहुदेववाद मिलता है।

वेदों की पाश्चात्य व्याख्या को स्वीकार कर लेना वैदिक साहित्य के बारे में केवल अज्ञानता का द्योतक है। वस्तुतः सही स्थिति तो यह थी कि आर्य जाति सभ्यता के एक ऐसे स्तर पर पहुँची हुई थी जो उस समय की किसी भी अन्य जाति को प्राप्त नहीं था। इनमें से अनेक ऐसे ऋषि–मुनि थे जिन्होंने परम सत्ता की रहस्यमय अनुभूतियाँ प्राप्त कर ली थी और इन अनुभवों को ऋचाओं के माध्यम से वाणी दी थी। वैदिक साहित्य की ये ऋचाएं स्पष्टतः आध्यात्मिक और एकत्ववादी दार्शनिक सिद्धांतों की और संकेत करती हैं।

2.3 ऋत का सिद्धांत

➢ ऋत वैदिक साहित्य में प्रकृति की एकरूपता का सिद्धांत है।

"ऋत" वैदिक दर्शन की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। वैदिक मन्त्रों में इसे एक प्रमुख स्थान प्राप्त है। ऋत का शाब्दिक अर्थ घटनाओं के गति–क्रम से है। मूल आशय प्रकृति की एकरूपता या घटनाओं और वस्तुओं की व्यवस्था से है, जैसे, दिन और रात का नियमित रूप से बदलना, या सूर्य और तारों की नियमित गति, व्यवस्थित रूप से ऋतुओं का आना और जाना, इत्यादि। ऋत, इस प्रकार विश्व की प्राकृतिक व्यवस्था की और संकेत करता है। वेदों में देवताओं को ऋत का संरक्षक (ऋतस्य गोपा) और ऋत के अनुसार आचरण करने वाला (ऋतायु) कहा गया है। ऋत का उल्लंघन देवता भी नहीं कर सकते।

➢ ऋत सारे परिवर्तनों के मूल में निहित है।

विश्व में नियमित परिवर्तन को संभव बनाने वाला ऋत का ही अपरिवर्तनीय सिद्धांत है। सारे परिवर्तन के मूल में ऋत है जो स्वयं अचल है। सभी परिवर्तन वस्तुतरू ऋत की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। नदियाँ ऋत के अनुसार बहती बताई गईं हैं दृऋतंपत्ति सिंघवरू। हर परिवर्तन की पृष्ठभूमि में ऋत ही कार्यरत है। विश्व का चलायमान क्रम ऋत की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। पवन सुदूर ऋत के स्थान से आती है, आकाश और पृथ्वी ऋत के कारण ही अपनी अपनी जगह स्थित हैं। इस प्रकार हमें वैदिक अवधारणा,ऋत, मेंउस अपरिवर्तनीय सत्ता का प्रथम संकेत मिल जाता है, जो परिवर्तन संभव बनाता है।

➢ ऋत का मार्ग नैतिक मार्ग है।

ऋत की अवधारणा मूलतः प्रकृति की गति का नियमन और निर्धारण है किन्तु यह सिद्धांत क्रमशरू नैतिक पथ का प्रतीक भी बन गया। इसे न्याय–मार्ग भी मान लिया गया। जिस तरह प्रकृति का ऋत मार्ग पर चलना सही मार्ग पर चलना है उसी तरह मानुष का सही आचरण भी ऋतमार्ग ही है। इस प्रकार ऋत जो मूलतरू प्राकृतिक–नियम था धीरे धीरे "नैतिक नियम" के रूप में भी देखा जाने लगा और कालान्तर में मानव प्रसंग में यह कर्म–सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। यह कर्म–सिद्धांत का एक प्रकार से पूर्वानुमान है। ऋत नैतिकता का मापदंड प्रदान करता है।

ऋत सत्य है। अनृत असत्य है, सत्य का विरोधी है।इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋत के कई आयाम हैं। वह प्रकृति में एकरूपता का सिद्धांत है। यह चलायमानविश्व के मूल में अपरिवर्तनीय सत्ता है। सदाचार का नैतिक नियम है। कर्म सिद्धांत का पूर्वानुमान है। और अंत में ऋत की इस अवधारणा में यह भी निहित है कि विश्व व्यवस्था मूलतः नैतिक व्यवस्था है।

2.4 वैदिक देवता

हम पहले ही इस बात का संकेत कर चुके हैं कि वैदिक दर्शन का प्रमुख स्वर एकत्ववादी और आध्यात्मवादी है तथा विभिन्न वैदिक देवता एक ही आध्यात्मिक तत्व की अनेक अभिव्यक्तियाँ। ये देवता प्राकृतिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अग्नि और वायु आदि देवताओं के वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। ये वर्णन देवताओं की किसी चारित्रिक विशेषता को नहीं बताते बल्कि अग्नि और वायु जो प्राकृतिक तत्व हैं उन्हीं के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

- देव वह है जो मनुष्य को देता है।

वैदिक साहित्य में "देव" एक रहस्यमय शब्द है। देव वह है जो मनुष्य को देता है ईश्वर देव है क्योंकि वह सारे विश्व को देता है। विद्वान देव है क्योंकि वह विद्या को देता है। सूर्य चन्द्र आकाश देव हैं क्योंकि वे सृष्टि को प्रकाश देते हैं। माता पिता देव हैं क्योंकि वे निर्देशन देते हैं। वैदिक साहित्य में अनेक देवों का वर्णन है–

"मित्र" और 'वरुण" – मित्र और वरुण,ये दोनों देवता साथ साथ रहते हैं मित्र का आह्वाहन प्रायः वरुण के साथ ही किया जाता है। मित्र कभी कभी सूर्य और कभी कभी प्रकाश का प्रतिनिधित्व करता है। मित्र और वरुण दोनों ही आदित्य के पुत्र हैं। मित्र बारह आदित्यों में प्रथम हैं। ये दोनों देवता ऋत के संरक्षक हैं। वरुण आकाश के अधिपति हैं और पश्चिम दिशा के दिक्पाल हैं। इसीलिए मित्र का साहचर्य प्रातः कालीन प्रकाश है। वरुण का सम्बन्ध रात्रिकालीन आकाश से है। वैदिक साहित्य में वरुण को आकाश का अधिष्ठाता माना गया है किन्तु पुराणों में उन्हें जल का अधिपति कहा गया है। ऋग्वेद में वरुण को अग्नि के सामान तेजस्वी और सहस्र नेत्रों वाला बताया गया है। ये इंद्र और सूर्य की कोटि के देवता है। नैतिक और भौतिक नियमों के संचालक हैं। वे सृष्टि का सतत् अवलोकन करते हैं। इन्हीं के कारण रात और दिन का नियम स्थिर है।

"सूर्य" – ऋग्वेद में सूर्य को संबोधित कई ऋचाएं है। सूर्य जीवन और प्रकाश का दाता है। सूर्य की अनेक अप्राकृतिक शक्तियां भी हैं। चल और अचल सभी का अस्तित्व "सूर्य" के कारण ही है। वह सारे विश्व के कार्य कलापों पर अपनी दृष्टि टिकाए रखता है। वह मनुष्यों को अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए प्रेरित करता है अन्धकार मिटा कर प्रकाश देता है। सूर्य इस प्रकार सारे जगत का निर्माण करता है और उसको संचालित करता है। सूर्य के लिए कहा गया है कि वे प्रजापति ऋषि कश्यप के पुत्र हैं। अदिति के गर्भ से इनका जन्म हुआ है। विश्वकर्मा की पुत्री से इनका विवाह हुआ, इनकी दूसरी पत्नी का नाम छाया था।

"सविता" – सविता भी एक देवता है। ऋग्वेद में अनेक ऋचाएं सविता को संबोधित हैं। इन्हें स्वर्ण नेत्र, स्वर्ण हाथों और स्वर्ण जिह्वा वाला कहा गया है। कभी कभी इन्हें सूर्य का पर्यायवाची भी माना गया है। गायत्री मन्त्र सविता के रूप में ही सूर्य को संबोधित है। सविता न केवल दिन के सूर्य का, बल्कि रात में न दिखाई देने वाले सूर्य का भी प्रतिनिधित्व करती है। सविता पापों को क्षमा करने वाली है।

"विष्णु" – सूर्य का एक रूप विष्णु भी हैं। वे समस्त जगत के पालनहार हैं। उनकी महानता को कोई छू नहीं सकता। ऋग्वेद में विष्णु को "वृहद्शरीर" कहा गया है, अर्थात, सारा विश्व ही उनका शरीर है। विष्णु अपने उपासकों के आह्वान पर उनकी सहायता करने तुरंत आते हैं। "उषस" प्रतिदिन प्रातःकाल प्रकाश और जीवन देने वाली देवी हैं। अश्वनी और सूर्य के प्रेमी हैं, लेकिन जैसे ही वे अपनी सुवर्ण किरणों से इसका आलिंगन करना चाहते हैं वह तिरोहित हो जाती है।

"पूषन"– एक अन्य सौर देवता पूषन हैं। ये ऋग्वेद के एक प्रमुख प्रभावशाली देव हैं। पूषन संभवतः सूर्य का ही नामान्तर है। इनके स्वभाव की

बहुविध चर्चाएँ ऋग्वेद में वर्णित हैं। इनकी पत्नी का नाम "सूर्या" है। ये प्रमुख रूप से ग्राम देवता हैं।

"अश्वनि"– सूर्य के दो जुड़वां पुत्र हैं, दिन और रात। सूर्य और चन्द्र का क्रमशः ये प्रतिनिधित्व करते हैं। इन दोनों को उषस का साहचर्य प्राप्त है। वेदों में इन्हें उष स का आह्वान करने वाला बताया गया है। ये सुन्दर, चपल, चमकीले और युवा है। संभवतः अन्धकार और प्रकाश के संक्रमण काल में भोर के ये तारे है। ये कृपालु हैं और सभी क्लेशों के तारनहार हैं।

"अदिति"– अदिति का शाब्दिक अर्थ है, जो बंधा न हो, खंडित न हो। अदिति उस फैलाव और विस्तार के देवता हैं जो हमारी धरती से परे है। ऋग्वेद में कहा गया है, अदिति आकाश है। अदिति क्षितिज है। अदिति माता,पिता और पुत्र हैं। जिसने भी जन्म लिया है और जो भी जन्म लेगा वह अदिति है। अदिति की यह अवधारणा सर्वव्यापी क्षमताओं की अवधारणा है। यह लगभा सांख्य की 'प्रकृ ति'से मिलती–जुलती अवधारणा है। अदिति को सभी के अस्तित्व का अधिष्ठान अथवा गर्भ कहा गया है। यह प्रकृति, पृथ्वी और वाणी का प्रतिनिधित्व करती है। विशेषकर बच्चों और पशुओं के कलां और संरक्षण का दायित्व लेती है। क्षमाशील है।

'अग्नि'– ऋग्वेद के प्रधान देवताओं में से एक अग्नि भी है। वेद में लगभग २०० ऋचाएं अग्नि को संबोधित हैं। अग्नि परमात्मा के मुख से उत्पन्न है। अग्नि की स्त्री का नाम स्वाहा है। दक्षिण–पूर्व कोण इसके रहने का स्थान है। सूर्य, इंद्र और अग्नि यह त्रयी अत्यंत पावन बताई गई है।

"पर्जन्य" – आकाश का देवता है। पृथ्वी को परिजन्य की पत्नी बताया गया है। वेदों में पृथ्वी को माँ और आकाश को पिता बताया गया है। पर्जन्य वर्षा और मेघ का देव भी है। वह सारे विश्व पर शासन करता है। सभी प्राणियों का वह आश्रय है। वह चराचर का जीवन है पर्जन्य का चमकाना सर्वाधिक भय उत्पन्न करता है। इंद्र कहते हैं– हाँ, जब मैं गरज और तड़ित भेजता हूँ तभी तुम मुझ पर विश्वास करते हो ।

"इंद्र" – वेदों के सर्वाधिक लोकप्रिय देवता इंद्र हैं। यह वर्षा के देवता हैं और भारत में भौतिक समृद्धि वर्षा पर ही आधारित है। इंद्र ताजगी और बल प्रदान करने वाले हैं। वे जल, आकाश, धरती और पहाड़ सभी पर शासन करने वाले देव हैं। मनुष्य को सर्वोत्तम विचारों और प्रवृत्तियों से प्रेरित करने वाले हैं। युद्ध में संघर्षरत योद्धा इंद्र का आह्वान करते हैं। वे अपने असीमित बल द्वारा शत्रुओं पर विजय संभव बनाते हैं।

वेदों में कई अन्य देवी–देवताओं का भी जिक्र है किन्तु वे बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं। उनका सन्दर्भ भी बहुत कम आया है।

2.5 विश्वोत्पत्ति–सिद्धांत

ऋग्वेद के "नासदीय – सूक्त" और यजुर्वेदके "पुरुष–सूक्त" में विश्योत्पत्ति का एक विकसित दार्शनिक सिद्धांत हमें वेदों में प्राप्त है ।

नासदीय सूक्त – ऋगवेद का नासदीय सूक्त "सृष्टि का गान" है और विश्व साहित्य में उसका अपना एक स्थान है । इस सूक्त में हम वेदों में व्यक्त एकत्वादी विचार से परिचित होते हैं। वहां रचनाकार ऋषि ने कारणता के सिद्धांत को स्वीकार किया है और सारे विश्व का उद्‌गम एक अकेले स्रोत में माना है। इस

स्रोत के स्वभाव पर भी विचार किया गया है। इसके अनुसार शुभ और अशुभ, सत और असत् जीवन और मृत्यु में एक अंर्तद्वन्द है। यह एक आतंरिक द्वैत है। इसका समाधान उच्चतर सिद्धांत द्वारा जो सभी द्वैत से परे है, किया जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्व की उत्पत्ति किसी वाह्य शक्ति द्वारा नहीं हुई है बल्कि एक अतीन्द्रीय प्रथम कारण के स्वतः स्फूर्त विकास से ही दृश्य जगत बना है। आदि कारण जो "एक" है की अवधारणा पूर्णतः निर्वैयक्तिक है। इसमें कोई रहस्य नहीं है। "तद् एकम"एक ऐसा वाक्यांश है जो इस बात का संकेत देता है इस "एक' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही विश्व का अंतिम सिद्धांत है। उपनिषदों में बाद में विस्तार से विकसित एकत्ववाद की स्पष्ट झलक हमें इस सूक्त में मिलाती है। बेशक नासदीय सूक्त कई जगह बहुत अस्पष्ट है और इसका अनुवाद इसीलिए बहुत कठिन है। किन्तु मोटे तौर पर यह एकत्ववाद की ओर इशारा करता है, यह बिलकुल साफ है।

पुरुष सूक्त

यजुर्वेद का पुरुष सूक्त एक प्रकार से नासदीय सूक्त की ही काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इसमें सृष्टि का उपादान कारण विराट पुरुष बताया गया है जिसके शरीर से सृष्टि की रचना हुई है। यहाँ सृष्टि की रचना को यज्ञ के रूप में लिया गया है जिसमे पुरुष की बलि दे दी गई है। सृष्टि की यह कवि—कल्पना बहुत ही उदात्त है। किन्तु मूल रूप से इसमें भी उसी एकत्वाद की पुष्टि की गई है जो हमें नासदीय सूक्त में मिलती है।

2.6 सारांश

❖ एकत्ववाद वेदों का दार्शनिक स्वर मुख्यतः आध्यात्मिक औए एकत्वादी है। पाश्चात्य व्याख्याकारों की वेदों की व्याख्या पूर्वाग्रहों से युक्त है। वेद गड़रियों के गीत नहीं है और न हीं उनकी भौतिकवादी और बहुदेववादी व्याख्या उचित है। वेदों के रचयिता ऋषि—मुनि थे जिन्होंने एकत्व की परम—अनुभूति प्राप्त की थी। वेदों के देवता इसी "एकत्व" के विविध पक्षों की अभिव्यक्तियाँ हैं।

❖ ऋत का सिद्धांत ऋत वेदों की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। इसके कई आयाम हैं ।यह प्रकृति की एकरूपता का सिद्धांत है। विश्व की परिवर्तनशीलता का अपरिवर्तनीय आधार है। सदाचार का नैतिक नियम है। कर्म सिद्धांत का पूर्वानुमान है। ऋत सत्य है। अनृत असत्य है। ऋत की अव— धारणा में यह भी निहित है कि विश्व—व्यवस्था पूर्णतः एक नैतिक व्यवस्था है।

❖ वेदों के देवता देव वह है जो देता है। वैदिक देवता प्रकृति की शक्तियों के स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते है। ऐसे अनेक देवताओं का वर्णन वेदों में आता है। "मित्र" और "वरुण" ऋत के संरक्षक हैं। "सूर्य"जगत का संचालक है। "सवितः" पापों को क्षमा करने वाले हैं। "विष्णु" जगत के पालनहार हैं। "पूषण" पशुओं के ग्राम'—देवता हैं। "उषस" प्रातःकाल की देवी है। "अदिति" आकाश और क्षितिज है जो फैलाव और विस्तार का प्रतिनिधित्व करती है। "अग्नि" ऋग्वेद का एक प्रधान देवता है। ये दिक्पाल हैं। परिजन्य और इंद्र क्रमशः आकाश और वर्षा के देव हैं।

❖ विश्वोत्पत्ति ऋग्वेद में "नासदीय–सूत्र" और यजुर्वेद में "पुरुष–सूक्त" विश्वोत्पत्ति का एक विकसित सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं। नासदीय सूक्त "सृष्टि का गान" है। इसमें विश्योत्पत्ति स्वतः स्फूर्त बताई गई है। तथा "तद एकं" इसमें एक ऐसा वाक्यांश है जो एक ही परम सत्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानता। "पुरुष–सूक्त" में स्रष्टि का उत्पादन कारण विराट पुरुष को बताया गया है जिसके शरीर से सृष्टि की रचना हुई है। सृष्टि रचना एक यज्ञ है जिसमें स्वयं पुरुष की आहुति दे दी गई है।

2.7 शब्दावली

1. एकत्ववाद (अंग्रेजी दृ मोनिस्म) वह दार्शनिक सिद्धांत जिसके अनुसार संसार अंततः एक ही कोटि का है जैसे, भौतिक या आध्यात्मिक।
2. आध्यात्मवाद दर्शन शास्त्र का वह सिद्धांत जिसके अनुसार संसार अंततः भौतिक न होकर आत्मिक, आत्मा के स्वरूप का, है।
3. बहुदेववाद–दर्शन का वह सिद्धांत जिसके अनुसार इस संसार में अनेक देवताओं का वास है और जिनकी अपनी अलग–अलग व्यक्तित्व की पहचान है।
4. ऋत सत्य, सृष्टि का आदि और धारक तत्व। ईश्वरीय नियम।
5. देवता देने वाला, वह जो मनुष्य को देता है। दिव्य शक्ति संपन्न।
6. विश्वोत्पत्ति सिद्धांत सृष्टि–सिद्धांत। विश्व की उत्पत्ति तथा विकास का विवेचन करने वाला सिद्धांत।

2.8 प्रश्नावली

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न –

1. वैदिक साहित्य का मुख्य दार्शनिक स्वर क्या है? स्पष्ट करें।
2. क्या आप वैदिक साहित्य की इस पाश्चात्य व्याख्या से सहमत हैं कि वेदों में बहुतत्ववाद का समर्थन है? अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।
3. ऋत का क्या अर्थ है? उसके बहुआयामी स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
4. देवता का क्या अर्थ है? वैदिक साहित्य में अनेक देवताओं का वर्णन है। इनमें से किन्हीं दो प्रमुख देवताओं का वर्णन कीजिए।
5. विश्वोत्पत्ति सिद्धांत का क्या अर्थ है? वैदिक साहित्य में किन सूक्तों द्वारा विश्वोत्पत्ति का सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है। संक्षेप में उनकी व्याख्या कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न –

संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए –

1. एकं सद विप्रा बहुदा वदन्ति
2. ऋत का अर्थ

3. सूर्य / सविता / वरुण / मित्र / विष्णु / पूषन / अदिति / अग्नि / परिजन्य / इंद्र –इनमें से किसी एक देवता पर टिप्पणी लिखिए।

4. नासदीय सूक्त अथवा पुरुष सूक्त।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

निम्नलिखित वाक्यों के रिक्त स्थान कोष्ठक में दिए सही शब्द से भरिए,

1. वेदों में अनेक देवताओं का उल्लेख होते हुए भी उसका स्वर................नहीं हैं। (बहुदेववादी / एकत्ववादी)

2. ऋत सिद्धांत को––––––––––––––का पूर्वानुमान कहा जा सकता है । (कर्म योग / कर्म सिद्धांत)

निम्न वाक्यों का कथन सही है या गलत, चिह्नित कीजिए,

1. वेद गड़रियों के गीत है (सही / गलत)

2. अनृत असत्य है (सही / गलत)

3. वैदिक देवताओं में उनके व्यक्तिगत चारित्रिक गुणों का वर्णन नहीं है। (सही / गलत)

4. वैदिक देवताओं में प्राकृतिक तत्वों के स्वरूप का वर्णन है (सही / गलत)

5. पुरुषसूक्त में ऋत के सिद्धांत की विवेचना की गई है। (सही / गलत)

2.9 पाठ्य पुस्तकें

(1) Sharma,C-D- : A Critical Survey of Indian Philosophy (Available in Hindi also)

(2) Hiriyanna M, : Outlines of Indian Philosophy (Available in Hindi also)

****

इकाई–3

उपनिषदों का दर्शन : आत्मन का स्वरूप

<u>इकाई की रूपरेखा</u>

3.0 इकाई का उद्देश्य

3.1 प्राक्कथन

3.2 उपनिषद्–सामान्य परिचय

3.3 आत्म–ज्ञान

3.4 आत्मन की अवस्थाएं

3.5 पञ्च कोष की अवधारणा

3.6 सारांश

3.7 शब्दावली

3.8 प्रश्नावली

3.9 पाठ्य पुस्तकें

3.0 इकाई का उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको उपनिषदों की सामान्य प्रवृत्तियों से परिचय कराना ही नहीं है बल्कि उपनिषदों में जीवात्मा और आत्मा के सम्बन्ध में जो दार्शनिक चर्चाएँ हुई हैं उनसे भी अवगत कराना है। यों तो उपनिषद् भी वेदों की ही तरह कोई स्पष्ट सिद्धांत प्रतिपादित नहीं करते किन्तु इनकी स्थिति वेदों के अंत में होने के कारण ये काल क्रम में ही नहीं बल्कि दार्शनिक दृष्टिकोण, जिसे "वेदान्त" नाम से जाना जाता है, उसकी पृष्ठ भूमि भी तैयार करते हैं। आत्म ज्ञान को प्राप्त करने, या कहें, आत्मन के स्वरूप को जानने के लिए उपनिषदों में गुरुओं द्वारा नेति नेति पद्धति अपनाई गई है। इस पद्धति से किस प्रकार आत्मन की समझ विकसित की गई है इसका अनुमान भी आपको इसमें मिल सकेगा। इसके अतिरिक्त आप उपनिषदों में वर्णित आत्मन की अवस्थाएं और पंचकोश की धारणा से भी अवगत हो सकेंगे।

3.1 प्राक्कथन

शब्द, उपनिषद् का अर्थ गुरु के निकट बैठ कर ज्ञान प्राप्त करना है। गुरु यहाँ पहले परीक्षा लेता है कि उसका शिष्य ज्ञान प्राप्त करने का पात्र है भी या नहीं। परीक्षा में सफल हो जाने के बाद ही गुरु उससे दार्शनिक चर्चाएँ करता है और उसकी जिज्ञासाएं शांत करने का भरसक प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में वह अनेकानेक दार्शनिक सिद्धांतों की ओर संकेत करता है परन्तु कोई बना बनाया

सिद्धांत प्रतिपादित नहीं करता। यही कारण है कि उपनिषदों में कोई एक "वाद" ढूँढ़ पाना मुश्किल है। फिर भी उपनिषदों का स्वर मूलतः वेदों के स्वर की ही तरह एकत्ववादी ही है। इसके अनुसार अंतिम सत्ता एक है और उसका स्वभाव आध्यात्मिक है। व्यक्ति की आतंरिक खोज में इस सत्ता को अंततः 'आत्मन' कहा गया और बाह्य खोज में वह "ब्रह्म" कहलाई। इस इकाई में हमने आत्मन के स्वरूप की चर्चा करना अपना अभीष्ट रखा है।

3.2 उपनिषद्–सामान्य परिचय

❖ उपनिषदों में वैदिक शिक्षा का सार है।

उपनिषदों में वेदों का सार है। ये वेदों के बाद विकसित हुए। वस्तुतः बाद में जितने भी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय हुए हैं उनकी नींव उपनिषद् ही हैं। भारत में ऐसा कोई महत्वपूर्ण दर्शन नहीं है जिसकी जड़ें उपनिषदों में देखी न जा सकें। उपनिषद क्योंकि वेदों के अंतिम भाग है, इसलिए इन्हें वेद, अंत, वेदान्त, भी कहते हैं।

❖ उपनिषद् शब्द का शब्दार्थ समर्पण भाव से निकट बैठना है।

'उप' का अर्थ निकट है,'नि' से तात्पर्य समर्पण–भाव है और "सद" माने बैठना है। अतः उपनिषद् से तात्पर्य गुरु के पास श्रद्धापूर्वक बैठ कर विश्व के रहस्य को जानना है।

उपनिषद का एक अन्य अर्थ भी है। वह है, गुप्त ज्ञान। यह गुप्त ज्ञान गुरु हरेक को नहीं देता। जो शिक्षार्थी स्वयं को इसका अधिकारी सिद्ध कर देता है वही गुप्त ज्ञान का पात्र होता है। 'प्रश्न उपनिषद्' में जिज्ञासु परम सत्य को जानने के लिए गुरु के पास जाते हैं। लेकिन गुरु एक वर्ष तक उन्हें अपने साथ रहने के लिए कहता है। उसका उद्देश्य यह परखना था कि इनमें से कोई सर्वोच्च विद्या का अधिकारी है भी या नहीं। इसी प्रकार 'कठ उपनिषद्' में नचिकेता जब मृत्यु के बाद आत्मा के बारे में जानने के लिए यम के पास जाता है तो उसे अपने जिज्ञासा का तुरंत उत्तर नहीं मिलता। यम पहले नचिकेता की लगन और विश्वसनीयता की परीक्षा करता है। गुप्त ज्ञान हरेक को आसानी से नहीं मिल जाता।

भारत में हर दर्शन किसी न किसी अभद्र भावना से आरम्भ होता है और उसे नाश करने के उपाय में समाप्त होता है। उपनिषद् में जो "सद" है उसका अर्थ नाश से भी है। दुःख, अज्ञान आदि ऐसी ही भावनाएं हैं। शंकराचार्य के अनुसार उपनिषदों की शिक्षा हमारे जन्मजात अज्ञान का नाश करने में सहायक है।

क्योंकि उपनिषदों की दिलचस्पी हमारी किसी न किसी अभद्र भावना के विनाश की रही है अतः वह संतोष और आशावादिता जो हमें वैदिक चिंतन में दिखाई देती है उपनिषदों में उपस्थित नहीं है। वैदिक साहित्य में मनुष्य एक ऐसे जगत में रहता है जहां सुख और चैन है। लेकिन उपनिषदों में मनुष्य असंतुष्ट और जिज्ञासु है। वह दुःख और अज्ञान का अनुभव करता है और यही अभद्र भाव उसे चितन के लिए मजबूर करता है। किन्तु अज्ञान से आरम्भ हुआ उपनिषदीय चिंतन निराशावादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह जानते–मानते हुए कि जीवन दुखमय है, कि जीवन–मरण का चक्र कभी समाप्त नहीं होता, कि संसार की हर चीज अस्थाई और परिवर्तनशील है और इसी का नाम संसार है, कि मनुष्य स्वयं अपने आत्म तक के बारे में अज्ञानी है,–.फिर भी उपनिषदों की शिक्षा इन सब सीमाओं,

कमियों और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने की है, ना कि इनके सामने आत्म समर्पण करने की है।

❖ उपनिषदों में अनेक विचारकों का उल्लेख मिलता है।

कई चितकों के नाम लिए जा सकते हैं, जैसे अजातशत्रु, उद्दालक, ऐतरेय, गार्गी, मैत्रेयी, शांता कुमार, महिदास, रैक्व, शांडिल्य, सत्यकाम, जाबाला, जयावलि, श्वेतकेतु, भारद्वाज, बालाकी, याज्ञवल्क, इत्यादि। किन्तु इनके जीवन के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते। इसका एक बड़ा कारण शायद यह रहा है कि उस काल में दार्शनिक अपने चितन को सामने रखकर स्वयं पीछे पृष्ठ–भूमि में रहता था। अहम–नाश की बात करता था और स्वयं इसका पालन भी करता था। एक बात और जो उपनिषद् काल में सामने आई वह यह कि उस समय स्त्रियाँ भी दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में कम नहीं थीं। गार्गी, मैत्रेयी, जाबाला आदि, इसका उदाहरण हैं।

❖ उपनिषदों में हमें कोई एक दार्शनिक मत नहीं मिलता।

अनेक दार्शनिक मतों के संकेत इनमें स्पष्टः दिखाई देते हैं। वेदों की ही भाँति उपनिषदों में भी मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि इनमें कुल मिलाकर एकत्ववादी प्रत्ययवाद या कहें प्रत्ययवादी एकत्ववाद पर आग्रह है। उपनिषदों में जो दार्शनिक चर्चाएँ हैं वे लगभग सभी इस बात की और संकेत करती हैं कि जागतिक प्रवृत्तियों के पीछे उनके संचालन हेतु एक आध्यात्मिक परम सत्ता होनी चाहिए। उपनिषद् के चिन्तक हमें सत् चित् और आनंदस्वरूप परम सत्ता की ओर अग्रसर करते हैं तथा असत् से सत् की तरफ, अन्धकार से प्रकाश की तरफ तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर प्रस्थान करने की प्रार्थना करते है। "असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माअमृतं गमय"।

❖ उपनिषदों का उद्देश्य मानव मन को शान्ति प्रदान करना है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि उपनिषदों में हमें अनेक तत्वमीमांसक वार्ताएं और दार्शनिक संवाद मिलते हैं जो कई दार्शनिक सिद्धांतों की और संकेत करते हैं किन्तु ऐसा प्रतीत होता है की उपनिषदों का उद्देश्य किन्हीं दार्शनिक मतों का प्रतिपादन इतना नहीं है जितना मनुष्य की बेचैनी को शांत करना है और उसे स्वतन्त्र चिंतन की ओर उन्मुख करना है। उपनिषदों में किसी एक मत का दार्शनिक प्रतिपादन नहीं हुआ है। उपनिषद जीवन के कठिन तथ्यों के समक्ष बहुत कुछ काव्यात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं।

❖ उपनिषदों का केन्द्रीय विषय सत्य की खोज है।

उपनिषदों का असंतुष्ट चिन्तक बहुत जिज्ञासु है। यथास्थिति से असंतुष्ट उपनिषदों के जिज्ञासु चिंतकों के प्रश्न रोजमर्रा की समस्याओं के सन्दर्भ में न होकर समस्याओं के मूल कारणों को समझने में होता है। उदाहरणार्थ श्वेताश्वतरोपनिषद में आरम्भ में जिज्ञासु पूछता है, इस जगत का मुख्य कारण क्या है? हम किसलिए उत्पन्न हुए हैं? किससे जी रहे हैं? और हमारी स्थिति किस प्रकार की है? किन अवस्थाओं में हमें दुःख सुख होता है? इसी प्रकार केन उपनिषद में पूछा गया है, हमारी प्रेरणा का क्या स्रोत है? मन, वचन, वाणी, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ आदि, अपने अपने विषयों में कैसे प्रवृत्त होती हैं? वह क्या है जो आँख को दृष्टि, कान को श्रवण और वाणी को वाणी प्रदान करता है? इन सभी प्रश्नों के पीछे संकेत यह है कि विश्व के संचालन हेतु एक परम सत्ता होनी चाहिए।

- ❖ कहा जाता है कि उपनिषदों की संख्या 100 से अधिक है।

लेकिन सभी उपनिषद् हमें उपलब्ध नहीं हैं। महत्वपूर्ण और प्रमुख उपनिषद् गिने चुने ही हैं, जैसे, केन, ईश, कठ, प्रश्न, मुन्डक्य, तैत्रिरीय, छान्दोग्य और बृहदारन्यक आदि।

3.3 आत्म ज्ञान

अनेक उपनिषदों में आत्मन के स्वभाव को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में एक कथा आती है। देवता गण इंद्र और विरोचन को प्रजापति के पास आत्म–ज्ञान के लिए भेजते हैं। आत्म ज्ञान का अधिकारी बनाने के लिए प्रजापति इन दोनों को बत्तीस वर्ष तक आध्यात्मिक अनुशासन में रहने के लिए कहते हैं। बाद में वे दोनों अपने गुरु के पास आत्म–ज्ञान के लिए वापस आते हैं। प्रजापति तब धीरे धीरे क्रमशः आत्मन के वास्तविक स्वभाव को स्पष्ट करते हैं। इसके लिए नेति नेति का मार्ग अपनाया गया है, क्या आत्मा हमारे शरीर की प्रतिच्छाया है? क्या आत्मा स्वप्न अवस्था में मुक्त विचरने वाली सत्ता है? क्या आत्मा स्वप्न रहित सुषुप्त अवस्था में रहने वाला अमूर्त तत्व है? इन सभी बातों का एक एक करके परीक्षण किया जाता है। तब कहीं आत्मन के वास्तविक स्वभाव तक पहुंचा जा सका है।

आत्म ज्ञान – (1) आत्मन शरीर नहीं है।

इंद्र और विरोचन के वापस लौटने पर प्रजापति ने उनको कहा की वह व्यक्ति जिसे हम आँख से देखते हैं या जिसकी पानी में या दर्पण में प्रतिच्छाया देखते हैं, वही आत्मा है। इस जाणारी से विरोचन तो संतुष्ट हो गया किन्तु इंद्र के मन में कई संदेह उठने लगे। वह सोचने लगा आत्मा भला शरीर की प्रतिच्छाया कैसे हो सकती है? यदि शरीर सुन्दर है, सजा हुआ है तो क्या आत्मा भी सुन्दर और सजी हुई होगी? यदि शरीर अंधा और लंगडा है तो क्या आत्मा भी अंधी और लंगडी होगी? और सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि शरीर मर जाता है, नष्ट हो जाता है तो क्या आत्मा भी मर जाती है और नष्ट हो जाती है? शिष्य जब अपनी इन शंकाओं को अपने गुरु के समक्ष प्रस्तुत करता है तो प्रजापति उसकी बात मान जाते हैं और उसे बताते हैं की आत्मा वास्तव में शरीर नहीं है। तब वे एक दूसरा विकल्प सुझाते हैं।

आत्म ज्ञान – (2) स्वप्न अवस्था में मुक्त विचरने वाली वस्तु भी आत्मन नहीं है।

गुरुजी कहते हैं कि ठीक है आत्मन शरीर नहीं है। फिर आत्मन हो न हो वह तत्व है जो स्वप्न में स्वतन्त्र विचरण करता है। स्वप्न में स्वतन्त्र विचरण करने वाला देह दोषों से मुक्त होता है, वह सुन्दर या असुंदर, स्वस्थ या अस्वस्थ नहीं होता। वही आत्मन है। इंद्र इससे भी संतुष्ट नहीं हुए। उनकी शंका थी की भले ही स्वप्न देखने वाला शारीरिक न हो किन्तु भय इत्यादि भावनाओं का अनुभव तो वह भी करता है। स्वप्न में वह खुश होता है, दुखी होता है, इत्यादि। इंद्र के इस संदेह को भी प्रजापति स्वीकार करते हैं। वे एक तीसरा विकल्प प्रस्तुत करते है।

आत्म–ज्ञान – (3) स्वप्न रहित सुप्त अवस्था में रहने वाला तत्व भी आत्मन नहीं है।

यदि स्वप्न अवस्था में मुक्त विचरने वाला आत्मन नहीं है तो हो सकता है स्वप्नरहित सुप्त अवस्था में रहने वाला आत्मन हो। गहरी सुप्त अवस्था में आत्मा सभी भावनाओं से मुक्त होती है। उसे भय सुख दुःख कुछ नहीं सालता। लेकिन इंद्र इस उत्तर से भी संतुष्ट नहीं हुए। स्वप्न रहित सुप्त अवस्था तो एक ऐसी अवस्था है जो पूरी तरह विषय हीं होने से एक अमूर्त वास्तु भर रह जाती है । उसका तो ज्ञान, कर्म, भावना आदि सभी कुछ विलुप्त हो जाता है, फिर वह आत्मा कैसे हो सकती है, वह तो शून्य है! गुरु प्रजापति इस शंका से बेहद प्रसन्न हो जाते हैं और कहते हैं कि इसमे कोई संदेह नहीं कि आत्मन न तो शरीर है, न स्वप्न है न सुप्त अवस्था है और न ही नितांत अमूर्त शून्य है। वह केवल आकारगत अवधारणा नहीं है।

आत्म ज्ञान – (4) आत्मन व्यक्ति और उसके व्यापारों की पूर्व–मान्यता है, अधिष्ठान है।

आत्मा वस्तुतः जाग्रत, स्वप्न और सुप्त अवस्थाओं से परे है और सभी का अधिष्ठान है। ज्ञान की पूर्व मान्यता है। आत्मन सर्वव्यापी और अन्तर्यामी भी है। अनुभवातीत है। इन्द्रियाँ उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकतीं। सारा विश्व आत्मन में ही जीता है। इसी में गतिमान है और इसी में श्वास लेता है। आत्मन अमर है। आत्म प्रकाशित है। आत्म सिद्ध है। सभी संशयों और नाकारों से परे है। यह वस्तुतः वह है जिसपर सभी शंकाएं और संदेह टिके हैं, जो विचार को संभव बनाते हैं। यह वह अंतिम विषयी है, ज्ञाता है जो कभी विषय नहीं हो सकता, ज्ञेय नहीं हो सकता। यह समस्त ज्ञान की पूर्वमान्यता है। यह एक साथ ज्ञाता और ज्ञेय दोनों में अभिव्यक्त है। इसमें आत्मा और अनात्मा का द्वैत तिरोहित हो जाता है।

वृहदारंयक उपनिषद् में भी याज्ञवल्क कहते हैं की आत्मन ही अंततः ज्ञाता है। उसे हम ज्ञेय की भाँती कभी नहीं जान सकते और फिर भी यह एक अमूर्त प्रत्यय नहीं हैं। निरा शून्य नहीं है क्योंकि ज्ञाता के ज्ञान का कभी विनाश नहीं होता। वह सदा प्रकाशमान है।

काव्यात्मक भाषा में कहा गया है की जब सूर्य डूब जाता है और चन्द्रमा छिप जाता है, जब आग बुझ जाती है तो अकेला आत्मन आत्मप्रकाशित बना रहता है। सम्पूर्ण जगत आत्मन के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है इसके बिना न सूर्य, न चन्द्र, न तारागन और न हीं बिजलियाँ चमकती हैं। मुंडक उपनिषद् में कल्पना की गई है कि आत्मन का मस्तिष्क अग्नि है, सूर्य और चन्द्र इसके दो नेत्र हैं दोनों कान इसकी दिशाएं हैं तथा वेद इसकी वाणी हैं? वायु इसका प्राण है और ह्रदय जगत है इसके दोनों पैरों से पृथ्वी उत्पन्न हुई है और यही समस्त प्राणियों की अंतरात्मा है। कठ उपनिषद् में रथ का दृष्टांत देते हुए कहा गया है की शरीर रूपी रथ में बुद्धि सारथि है और मन लगाम है, इसे इन्द्रियों के घोड़े चलाते है और जिस मार्ग पर वह चलता है वह विषयों का मार्ग है।

3.4 आत्मन की अवस्थाएं

उपनिषदों में आत्मन की चार अवस्थाएं बताई गई हैं। ये क्रमशः विश्व, तेजस, प्राज्ञ और तुरीय अवस्थाएं है। मान्डूक्य उपनिषद् में आत्म चेतना का

विश्लेषण कर बताया गया है की जागृत अवस्था में आत्मा को वाह्य जगत की चेतना रहती है और वह स्थूल वस्तुओं में रस लेता है। इसे "विश्व" कहा गया है ।

स्वप्न में आत्मा का सरोकार सूक्ष्म वस्तुओं से रहता है और इसे आतंरिक जगत की चेतना होती है । यह काल्पनिक वस्तुओ का सृजन करती है। इसे "तेजस" कहा गया है ।

स्वप्न रहित सुप्त अवस्था में स्थूल या सूक्ष्म कोई विषय नहीं रहता और इसलिए यहाँ कोई विषयी भी नहीं होता। विषय–विषयी का द्वैत यहाँ तिरोहित हो जात्सा है। ऐसी स्थिति में आत्मा को "प्राज्ञ" कहते हैं। सुप्त अवस्था में पीड़ा का अभाव होता है। न कोई इच्छाएं रहती हैं न ही स्वप्न रहते हैं। एक तरह से आनंद की स्थिति होती है। किन्तु यह सकारात्मक आनंद नहीं है। आनंद के प्रति अज्ञानता रहती है। आनंद की चेतना नहीं होती। अतः इसे एक उच्चतर सकारात्मक स्थिति तक पहुँचना आवश्यक है।

चौथी अवस्था शुद्ध चेतना की अवस्था है। इसमें सुप्तावस्था की तरह विषय–विषयी द्वैत नहीं रहता लेकिन एक सकारात्मक आनंदानुभूति है। यहाँ सारा अज्ञान तिरोहित हो जाता है? आत्मा स्वयं प्रकाश हो जाती है । यह वह आत्मन है जो शून्य नहीं है बल्कि सारे अस्तित्व का अधिष्ठान है, ज्ञान की पूर्व मान्यता है। इसका पूरी तरह से वरन नहीं किया जझेसकता क्योंकि यह ज्ञाता–ज्ञेय से परे है। इसे केवल अंतः प्रज्ञा द्वारा अपरोक्षतः जाना जा सकता है इसकी सिर्फ आत्मानुभूति की जा सकती है' इसे "तुरीय" अवस्था कहते हैं। इसे 'अमात्रा"– जिसको नापा नहीं जा सकता–भी कहा गया है। यह शांत, अद्वैत, आनंदमय और सर्वज्ञ है। इसमें सभी अनेकाताएं तिरोहित हो जाती हैं। ॐ इसका प्रतीक है। यह ओ–इ–म क्रमशरू जाग्रत, स्वप्न और सुप्त अवस्था के प्रतीक हैं जिनका कि यह अधिष्ठान है। यह इन तीनों अवस्थाओं में अभिव्यक्त होता है। फिर भी तीनों से परे है।

3.5 पञ्च–कोश की अवधारणा

तैत्तिरीयोपनिषद में पञ्च कोष की अवधारणा प्रस्तुत की गई है। इस सिद्धान के अनुसार हम आत्मा (जीवात्मा) शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में करते हैं। ये अर्थ क्रमशरू आत्मा के स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर हैं।

अन्नमय कोश

सर्वप्रथम स्थूल रूप में मनुष्य "अन्नमय" है। आन्नमय कोश आत्मा का स्थूलतम शरीर है। यह पुरुष के शारीरिक–भौतिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। अन्न से उत्पन्न और अन्न पर ही आधारित रहने के कारण देह को अन्नमय कहते हैं। यह आत्मा का बाह्यतम रूप है। उपनिषद कहता है अन्न से ही जगत के सभी जीव उत्पन्न होते हैं और अन्न से ही जीवित रहते हैं तथा अन्न में ही विलीन हो जाते हैं।

प्राणमय कोश

इस अन्नमय–कोश के अन्दर मनुष्य "प्राणमय" है। अर्थात वह न केवल भौतिक शरीर है बल्कि भौतिक शरीर के अन्दर वह जीवित भी है, प्राणमय भी है। अन्नमय कोष के भीतर रहने वाला यह दूसरा कोष है। प्राणमय कोष अन्नमय कोष का पूरक है। यदि अन्न प्राणमय न हो तो यह निर्जीव शरीर मात्र होगा। प्राणमय

कोष स्वास से निर्मित है। इसी जीवन तत्व से मिलाकर देह की सारी क्रियाएं संपन्न होती हैं। जीव जीवित होने के कारण ही बोलता,चलता–फिरता, खाता–पीता आदि दिखाई देता है।

मनोमय कोष

प्राणमय कोष के अंतर्गत भी एक "मनोमय कोष" है। यह न केवल मनुष्य को जीवित प्राणी बनाता है बल्कि एक चेतन व्यक्ति भी बनाता है। जहां प्राण से अन्नमय कोष पूर्ण होता है वहीं मन से प्राणमय कोष पूरित है। मनोमय कोष इन्द्रियों द्वारा निर्मित है। मन भी एक आतंरिक इन्द्रिय है। इसी से व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण और चिंतन कर पाने में अक्षम होता है।

विज्ञानमय कोश

मनोमय कोष के अन्दर एक अन्य विज्ञानमय कोश भी है जो व्यक्ति को न केवल चेतन बल्कि आत्मचेतन बनाता है। विज्ञान मनोमय का पूरक है। विज्ञानमय चेतना द्वारा प्रकाशित है। यह बुद्धि सहित ज्ञानेन्द्रियों से युक्त है। इसी के कारण व्यक्ति का करर्ता और भोक्ता होना संभव होता है। विज्ञानमय कोष कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख–दुःख आदि अहंकार विशिष्ट पुरुष है।

आनंदमय कोश

विज्ञानमाय कोश का अंतरवर्ती आनंदमय कोष है। मनोमय कोश के अंतर्गत जो विज्ञानमय कोष है वही सारतत्व है। उपनिषद् कहता है यही निश्चित रूप से रस है। आनंद है। इसे प्राप्त कर ही पुरुष आनंदमाय हो जाता है। यदि (आकाश की भाँति व्यापक) व्यापक यह आनंद न होता तो कौन भला कौन जीवित रहता और सांस लेता।

3.6 सारांश

उपनिषदों का सामान्य परिचय

उपनिषदों में वैदिक ज्ञान का सार है। शब्दार्थ के अनुसार उपनिषद् गुरु के पास श्रद्धा से बैठकर विश्व का रहस्य जानना है। गुरु इस गुप्त ज्ञान को तभी बताता है जब वह अपने शिष्य की ज्ञान के लिए पात्रता से स्वयं को संतुष्ट कर लेता है। उपनिषद् में निहित "सद" शब्द का एक अर्थ नाश से भी है। सभी मनुष्य दुखी हैं और अज्ञानी हैं। उपनिषद् का चिन्तन इस अज्ञान को नाश करने की दिशा की और अग्रसर है। कुल मिलाकर उपनिषद् असत् से सत् और मृत्यु से अमरत्व की दिशा की ओर उन्मुख हैं। उपनिषद् के विचारकों के जीवन और व्यक्तित्व के बारे में हमें बहुत कम जानकारी है क्योंकि उन्होंने अपने अहं को सामने न रखकर अपने विचार को सामने रखा। उपनिषदों में अनेक महिला चितकों के नाम भी आते हैं। उपनिषदों की खोज का केन्द्रीय विषय सत्य की खोज है। कुल मिलाकर उपनिषदों की संख्या १०० से अधिक बताई जाती है किन्तु महत्वपूर्ण गिने–चुने ही हैं, जैसे, कठ, ईश, केन, प्रश्न, मुण्डक, तैत्तिरीय, छान्दोग्य आदि।

आत्म ज्ञान–उपनिषदों में आत्म ज्ञान प्राप्त करने के लिए नेति नेति पद्धति का इस्तेमाल किया गया है। आत्मन शरीर नहीं है–आत्मन स्वप्न अवस्था में मुक्त विचरने वाली वस्तु नहीं है– स्वप्न रहित सुप्त अवस्था में पडा हुआ जीव भी आत्मन नहीं है। आत्मन अंततः इन सभी अवस्थाओं की पूर्व मान्यता सिद्ध हुई है। यह ज्ञान का अधिष्ठान है। आत्म प्रकाशित और आत्म सिद्ध है। इसे हम "ज्ञेय" की तरह कभी नहीं जान सकते।

आत्मन की अवस्थाएं–आत्मन की चार अवस्थाएं बताई गईं हैं। वे हैं– विश्व, तेजस. प्राज्ञ और तुरीय। स्थूल वस्तुओं में रस लेने वाली "विश्व" अवस्था है, स्वप्न से सरोकार रखने वाली "तेजस" है, सुप्त अवस्था में "प्राज्ञ" कहलाती है और आनंदमयी सकारात्मक अनुभूति की अवस्था "तुरीय" अवस्था है।

पञ्च–कोश की धारणा मानव व्यक्तित्व (जीवात्मा) के अनेक आवरण (कोश) हैं। सर्वप्रथम "अन्नमय–कोश" है जो मनुष्य का भौतिक शरीर है दूसरा "प्राणमय–कोश" है जो उसका जीवित शरीर है, तीसरा मनोमय–कोश है जो उसका मानसिक पक्ष है और उसमे चेतना का संचार करता है, चौथा, विज्ञानमय–कोश है जो उसे आत्म–चेतना प्रदान करता है और अंततः उसका पांचवां और सूक्ष्मतम कोश "आनंदमय कोश" है जो अन्य सभी से परे है और सभी की पूर्व मान्यता है।

3.7 शब्दावली

1. कोश – आत्मन के आवरण
2. अन्नमय – कोश – व्यक्ति का शरीर
3. प्राणमय कोश – व्यक्ति का जीवन
4. मनोमय कोश – व्यक्ति की चेतना
5. विज्ञानमय कोश – व्यक्ति की आत्म चेतना
6. आनंदमय कोष – परम आनंद की स्थिति
7. "विश्व"– आत्मा (जीवात्मा) की वह अवस्था जिसमें वह स्थूल वस्तुओं का रस लेता है
8. "तेजस"– स्वप्न अवस्था जिसमें आत्मा काल्पनिक वस्तुओं का सृजन करता है
9. "प्राज्ञ"– सुप्त अवस्था जिसमें जिसमें सभी प्रकार के भावों का अभाव होता है
10. "तुरीय"– सकारात्मक रूप से आनंदमय अवस्था
11. नेति–नेति दृ उपनिषदों में अपनाई गई नकारात्मक पद्धति जिसमें विलोपन द्वारा – यह नहीं, यह नहीं.– करके अंतिम सता तक पहुंचा जाता है

3.8 प्रश्नावली

दीर्घ कालीन प्रश्न :

1. उपनिषद का शाब्दिक रूप से क्या अर्थ है? उपनिषदों का केंद्रीय विषय क्या है? स्पष्ट कीजिए।
2. उपनिषदों की प्रमुख सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. उपनिषदों में किस प्रकार नेति नेति पद्धति से आत्मन तक पहुंचा गया है? स्पष्ट कीजिए।
4. उपनिषदों के अनुसार आत्मन के स्वरूप का वर्णंन कीजिए
5. उपनिषद् के अनुसार जीवात्मा की कितनी अवस्थाएं हैं? उन पर प्रकाश डालिए।
6. पञ्च कोश की धारणा को स्पष्ट कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

निम्न लिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए।

1. जीवात्मा की स्वप्न अवस्था और सुप्त अवस्था में अंतर
2. नेति नेति पद्धति
3. उपनिषदों के दार्शनिक
4. मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश में अंतर ।
5. आत्मन का स्वरूप

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न लिखित वाक्य सही हैं या गलत, चिह्नित कीजिए–

1. उपनिषदों में पञ्च–कोश के अंतर्गत पांच शब्दकोशों का उल्लेख है। (सही / गलत)
2. 'विश्व' जीवात्मा की वह स्थिति है जिसमें सारा विश्व प्रतिबिंबित होता है। (सही / गलत)
3. नेति– नेति पद्धति द्वारा सब कुछ नकार कर उपनिषद् शून्य स्थापित करता है। (सही / गलत)
4. उपनिषद् वेद के अंतिम भाग है । (सही / गलत)
5. अंतिम सत्ता, आत्मन, सारे जगत की पूर्वमान्यता और उसका अधिष्ठान है। (सही / गलत)

3.9 पाठ्य पुस्तकें

1. Sharma, C. D. : Critical Survey of Indian Philosophy (Hindi translation also available)

2. Hiriyanna M : Outlines of Indian Philosophy {Hindi translation also available)

3. Das Gupta S. N. A : History of Indian Philosophy Vol- 1 (Hindi version also available)

****

इकाई–4

जगत और ब्रह्म

<u>इकाई की रूपरेखा</u>

4.0 उद्देश्य
4.1 प्राक्कथन
4.2 ब्रह्म का स्वरूप
4.3 ब्रह्म के दो रूप
4.4 सृष्टि की उत्पत्ति
4.5 माया या अविद्या
4.6 उपनिषदों की व्यावहारिक शिक्षा
4.7 सारांश
4.8 शब्दावली
4.9 प्रश्नावली
4.10 पाठ्य पुस्तकें

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य पाठक को उपनिषदों में (१) ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करना है (२) ब्रह्म के दो रूपों सप्रपंच और निष्प्रपंच में अंतर बताना है (३) सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में जानकारी देना है (४) उपनिषदों में जो कभी कभी माया का प्रसंगवश उल्लेख हुआ है उसकी ओर संकेत करना है क्योंकि बाद में भारतीय दर्शन में माया पर काफी वाद–विवाद रहा है (५) उपनिषदों में ब्रह्मानुभूति के लिए जो व्यावहारिक शिक्षा दी गई है उसके बारे में बताना है इस प्रकार इस इकाई से हम उपनिषदों के बारे में काफी कुछ जानकारी प्राप्त कर सकेंगे जो पिछली इकाई में बताने से रह गई थी।

4.1 प्राक्कथन

भारतीय दर्शन के विद्वान डी.एस.शर्मा लिखा है कि भारत के दार्शनिक वितान में उपनिषद् हिमालय की तरह महान ग्रन्थ (Himalayan treatise) है। इनमें बाद में भारत की जितनी भी वैचारिक प्रवृत्तियाँ हैं उन सभी के बीज खोजे जा सकते है। सभी आस्तिक सम्प्रदाय उपनिषदों को ही प्रमाण मानते हैं। गीता उपनिषदों का सार है और ब्रह्मसूत्र में उपनिषदों के सूत्रों को ही एकत्रित कर एक भव्य दार्शनिक भवन खडा किया गया है। यहाँ तक की भारत के नास्तिक दर्शन कहे जाने वाले जैन और बौद्ध सम्प्रदाय भी उपनिषदों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं।

ब्रह्म, आत्मन, संसार {विश्व}, कर्म, उपासना और ज्ञान आदि, उपनिषदों की प्रमुख धारणाएं हैं जो बाद के चितकों के लिए अनेक दार्शनिक सिद्धांतों और विवादों की पृष्ठ भूमि बनीं। उपनिषदों का मुख्य पाठ था की मनुष्य का वास्तविक चिर आनंद दुनिया की संपत्ति बटोरने में नहीं है बल्कि आत्मिक खोज में है, आत्मानुभूति में है। उस परम ब्रह्म के वास्तविक ज्ञान में है जो विश्व की एकमात्र आध्यात्मिक सत्ता है। यदि उसका साक्षात्कार हो जाए तो बाकी सब चीजों का कोई अर्थ नहीं रहता। मनुष्य के लिए ब्रह्म प्राप्ति ही उसका लक्ष्य है और इसे सम्यक ज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है।

इस इकाई में हमने संक्षेप में, जहां तक हो सका है पारिभाषिक क्लिष्ट संस्कृत शब्दों के परहेज करते हुए, उपनिषद् में व्यक्त ब्रह्म के स्वरूप, जगत की सृष्टि, ब्रह्मानुभूति के लिए उपनिषदों की आवश्यक व्यावहारिक शिक्षा आदि को, जो छात्रों के लिए उपयोगी हो, स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

4.2 ब्रह्म का स्वरूप

(अ) वाह्य जगत का अंतिम सत्य ब्रह्म है।

उपनिषदों में आत्मन यदि मनुष्य (जीवात्मा) का सार माना गया है तो ब्रह्म बाह्य जगत का अंतिम स्रोत है। जीव के अंतिम सत्य की खोज करते हुए हम बता चुके हैं कि मनुष्य अंततः न अन्नमय है, न प्राणमय है, न विज्ञानमय है, वह आनंदमय है। इसी प्रकार यह भी बताया गया कि व्यक्ति का सत्य न तो उसका शरीर है न ही जाग्रत अवस्था का जीव है, न वह है जो उसके स्वप्न में विचरण करता है, और न ही वह जो सुप्त अवस्था में अवस्थित अमूर्त है, इनमें से कोई आत्मन नहीं है। सभी अनात्म हैं। ये व्यक्ति के सत् की ओर संकेत नहीं करते। अंतिम सत्ता, आत्मन, इन सबसे परे है और इनका अधिष्ठान है। वह स्वयं अनात्मन नहीं है। ज्ञेय नहीं है। सर्वोच्च सता तो आनंदमय आत्मन है जिसे कभी अनात्म की तरह जाना नहीं जा सकता।

उपनिषदों में कुछ कुछ इसी तरह की खोज जगत की अंतिम सत्ता के सन्दर्भ में भी हुई। यह आतंरिक निरीक्षण न होकर विषयगत खोज थी। दृश्य जगत क्या है? जिस तरह मेरी सत्ता अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आदि, नहीं है उसी तरह वाह्य खोज में यह पता लगा की अंतिम सत्ता न सूर्य है, न चन्द्र है, न वायु है, न अग्नि है, न जल है और न ही आकाश है। जिस तरह नेति नेति पद्धति से व्यक्ति की अंतिम सत्ता 'आत्मन' ठहराई गई नेति नेति पद्धति से ही वाह्य सत्ता सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, जल और आकाश को नकारते हुए "ब्रह्मन" कही गई। सूर्य, यह नहीं है (नेति) यच्चन्द्र, यह भी नहीं है (नेति), इसी प्रकार वायु, अग्नि, जल, आकाश, इनमें से कोई जगत की अंतिम सत्ता या स्रोत, जिसे हम जगत का अधिष्ठान कह सकें, नहीं है। जगत का अधिष्ठान इन सबसे परे है। उपनिषदों में उसे "ब्रह्म" की संज्ञा दी गई।

उपनिषदों के अनुसार जगत ब्रह्म से उत्पन्न होता है, उसी से पलता है और उसी में समा जाता है। ब्रह्म वस्तु जगत के नाम–रूप का कारण है। देश–काल प्रकृति, आदि, सभी में ब्रह्म है। जैसे अग्नि से स्फुलिंग निकलते हैं, जैसे पृथ्वी में पौधे उगते हैं, जैसे जीवित शरीर से बाल बढ़ते हैं, जैसे मकडी के शरीर से जाला निकलता है वैसे ही जगत ब्रह्म की पूर्णता से निकलता है और उसी में लौट जाता है। जल, पृथ्वी, वायु अग्नि और आकाश, आदि, पांच भूत, प्राण, इन्द्रियाँ

और मन –ब्रह्म से ही निकले हैं। नदियां, समुद्र, पहाड़, पौधे, देवता, मानव, पशु और पक्षी, चारों वेद, विधि और कर्म–सभी ब्रह्म से निकले हैं। जैसे मकडी जाले को अपने से निकाल कर फिर अपने में ही समेंत लेती है वैसे ही ब्रह्म जगत को अपने से उत्पन्न करता है और फिर अपने में ही समेट लेता है। वह उसे पहले से ही उपस्थित पदार्थ से पैदा नहीं करता। सृष्टि से पहले बस एक आत्मा ही था।

(ब) आध्यात्मिक एकत्ववाद– आत्मा और ब्रह्म का समीकरण।

उपनिषदों की इस दार्शनिक खोज में एक महत्वपूर्ण बात यह हुई की दोनों ही संप्रत्यय, आत्मन और ब्रह्मन– जिन्हें नेति–नेति पद्धति से अलग अलग खोजा गया, पर्यायवाची बन गए। दोनों ही विश्व के, जिसमें प्रकृति और मनुष्य दोनों ही सम्मिलित हैं, शाश्वत स्रोत हैं और इनमें भेद नहीं किया जा सकता। इन दो वस्तुओं (वस्तु वह जो वास्तव में हो) का ,आतंरिक सत्ता और वाह्य सत्ता का,, पूर्ण तादात्म्य हो गया। ये दोनों ही जीव और जगत से परे हैं, अतः इन दोनों में भेद करना इन्हें वस्तु बना कर जीव और जगत की कोटि में वापस ले आना होगा। बेशक, मनुष्य की अंतिम सत्ता और वाह्य जगत की अंतिम सत्ता की खोज अलग अलग और स्वतंत्र रूप से हुई किन्तु खोज के बाद पता यह चला कि खोज के निष्कर्ष अलग अलग न होकर एक ही हैं। दोनों पारमार्थिक हैं, दोनों सम्पूर्ण दृश्य जगत के परे हैं, दोनों में कुछ भी ऐसा नहीं है कि उन्हें दो माना जाए। दोनों एक ही हैं। जगत से परे होने के कारण ब्रह्म जागतिक विषय नहीं है और आत्मन तो अनात्मन हो ही नहीं सकता। अतः दोनों अभिन्न हो गए, एक ही हो गए। उपनिषदों के अनेक महावाक्यों में इस एकत्व को अभिव्यक्ति दी गई है। ″तत्त्वम असि″, ″अहं ब्रह्मास्मि′, आदि, सूत्र यही दर्शाते हैं कि मनुष्य से प्रकृति तक सभी का अधिष्ठान, सभी का स्रोत एक ही है जो इन सभी से परे है।

(स) आत्मन अनात्मन का द्वैत ब्रह्म में तिरोहित हो जाता है।

आत्मन और ब्रह्मन का यह समीकरण न केवल औपनिषदिक एकत्ववाद की ओर संकेत करता है बल्कि वह इस बात का भी द्योतक है कि वाह्य जगत अनात्मिक नहीं है, विषयगत होते हुए भी अनात्मिक नहीं है। आत्मिकता केवल मनुष्य तक ही सीमित नहीं है, बल्कि सभी वस्तुए अंततः आत्मा के स्वरूप की ही हैं। अतः आध्यात्मिक एकत्ववाद, आत्मा सर्वव्यापी है, वह इस या उस मनुष्य की अंतिम सत्ता न होकर, समस्त सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है। वस्तुतः आत्मन और अनात्मन का द्वैत ब्रह्म में तिरोहित हो जाता है। ब्रह्म आत्मन की ही तरह एक आध्यात्मिक वस्तु है फिर भी परिमित नहीं है। यह संशयातीत है क्योंकि मूलतः यह आत्मा के स्वरूप की ही है जिसपर संदेह नहीं किया जा सकता। जब तक हम ब्रह्म को आत्मन से अलग मानते रहेंगे वह केवल एक मान्यता या धारणा मात्र बना रहेगा लेकिन जैसे ही हमें यह बोध होता है कि वह हमसे अलग नहीं है, वह आत्मानुभूति का विषय बन जाता है। तैतरीय उपनिषद् में इसी सर्वोच्च सता को कहा गया है।

4.3 ब्रह्म के दो रूप

ब्रह्म के इस आध्यात्मिक एकत्वाद को हम दो रूपों में पाते हैं। और इन दोनों में एक महत्वपूर्ण अंतर है। कहीं कहीं इस परम सत्य को सप्रपंच ब्रह्म और कहीं कहीं इसे निष्प्रपंच ब्रह्म बताया गया है। अर्थात कहीं तो इसे प्रपंच–युक्त और कहीं इसे प्रपंच–मुक्त निष्प्रपंच प्रस्तुत किया गया है।

सप्रपंचब्रह्म—सप्रपंचब्रह्म का सर्वाधिक मान्य विवरण हमें छान्दोग्योपनिषद् में मिलता है (३.१४)। यहाँ इसे "सर्व खल्विदं ब्रह्म" कहकर संक्षेप में "तज्जलान" बताया गया। तत, जिसने विश्व को पैदा कियाय ज, और जिसमें वह विलीन हो जाता है और जिनको वह आधार प्रदान करता बताया गया है। ऐसे ब्रह्म में सभी इच्छाएं, सभी गंध और रस समाहित हैं। यह अपने आप में इतना पूर्ण है कि पूरी तरह शांत और अवाक है। इस सप्रपंच ब्रह्म का अत्मा से भी तादात्म्य किया गया है। "मेरे ह्रदय में यह आत्मा, चावल, जौ या सरसों के बीज अथवा बाजरे के कण से भी अधिक छोटी, और यह मेरे ह्रदय में पृथ्वी, अंतरिक्ष जैसे लोकों से भी अधिक महान है। यह ब्रह्म है। मेरी कामना है कि जब मैं मरूं तो मैं यही ब्रह्म हो जावूँ।

निष्प्रपंच ब्रह्म—निष्प्रपंच ब्रह्म के विवरण के लिए वृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी और याज्ञवल्क का संवाद एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसमें गार्गी नामक एक विदुषी दार्शनिक याज्ञवल्क से विश्व के अधिष्ठान के बारे में प्रश्न करती है। याज्ञवल्क कदाचित विश्व का पहला आध्यात्मवादी चिन्तक है। वह बताता है कि विश्व का उपान्त्य स्रोत आकाश है, और जब उससे आकाश के बारे में पूछा गया तो याज्ञवल्क ने उत्तर दिया कि उसे तो केवल नकारात्मक रूप से ही वर्णित किया जा सकता है। इसका भावार्थ यह था अंतिम सत्ता मानवीय अनुभव की पकड़ से परे है। नकारात्मक वर्णन कुछ इस प्रकार किया गया है, यह न स्थूल हैं न सूक्ष्म है, न छोटा है न बड़ा है, न नारंगी है न चिपचिपा है छाया रहित अन्धकार रहित, वायु और आकाश रहित यह निष्काम है, रस, गंध, रूप, श्रवण, वाक, मन, प्रकाश, प्राण, मुख और आकार रहित यह न बाहर है न अन्दर है, न कुछ खाता है न कोई चीज उसे खा सकती है।

यह शून्य नहीं है नकारात्मक विवरण से कहीं कोई अंतिम सत्ता को शून्य न समझ बैठे अतः याज्ञवल्क यह भी तुरंत जोड़ देते हैं कि जो कुछ भी है अपने अस्तित्व को वह इसी पारमार्थिक सत्ता से प्राप्त करता है। इसमें संकेत यह भी है कि यदि अंतिम सत्ता अवस्तु या शून्य मात्र होती तो यह प्रपंच, दृश्य जगत भी न होता।

उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म के सप्रपंच और निष्प्रपंच रूपों ने बाद में भारतीय वेदान्त दर्शन में एक विवाद पैदा कर दिया। जिन चिंतकों ने ब्रह्म के सप्रपंच रूप को स्वीकार किया उन्होंने विश्व को ब्रह्म का वास्तविक "परिणाम" माना (जैसे, रामानुजाचार्य) और जिन्होंने इसके निष्प्रपंच रूप को स्वीकार किया उन्होंने जगत को ब्रह्म का वास्तविक परिणाम न मानकर उसका "विवर्त" माना (जैसे शंकराचार्य)।

4.4 सृष्टि की उत्पत्ति

उपनिषद् कहता है कि सृष्टि से पहले एक ही आत्मा था। उसने निश्चय किया कि मैं जगत को उत्पन्न करूंगा और उसने लोक उत्पन्न किए। उसने सूक्ष्म और स्थूल, रूपहीन और रूपवान पैदा किए। आकाश आत्मा से उत्पन्न हुआ, वायु आकाश से उत्पन्न हुई, अग्नि वायु से उत्पन्न हुई, जल अग्नि से उत्पन्न हुआ, पृथ्वी जल से उत्पन्न हुई और पृथ्वी से पौधे उत्पन्न हुए। ब्रह्म में जगत एक अव्याकृत अवस्था में था। उसने उसे व्याकृत अथवा अभिव्यक्त बनाया। नाम—रूप और वस्तुओं में उसने भेद उत्पन्न किए।

सुबाल उपनिषद् के अनुसार भी सृष्टि के उत्पन्न होने का लगभग यही क्रम है। प्रारम्भ में न तो सत् था न असत् था। और न ही सदासद। इससे तमस

की उत्पत्ति हुई। तमस से भूतादि, भूतादि से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई और पृथ्वी के समस्त प्राणी उत्पन्न हुए। प्रलय में समस्त प्राणी पृथ्वी में समा जाते हैं, पृथ्वी जल में समा जाती है, जल अग्नि में समा जाता है। अग्नि वायु में समा जाती है, तन्मात्र भूतादि में समा जाता है। भूतादि महत में समा जाता है। महत अव्यक्त में समा जाता है। अव्यक्त अक्षर में समा जाता है और अक्षर तमस में समा जाता है। तमस परदेव में समा जाता है। इससे परे न सद है न न असद न सदासद। जगत के समस्त पदार्थ आदि, तत्व के ही विकार (मॉडिफिकेशन) हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार ये विकार नाम और शब्द मात्र हैं। इसी की विभिन्न व्याख्याएं करके शंकर ने विवर्तवाद और रामानुज ने परिणामवाद जैसे सृष्टि के सिद्धांत प्रस्तुत किए हैं।

4.5 माया या अविद्या

माया का सिद्धांत हमें उपनिषदों में केवल बीज रूप में ही प्राप्त है। शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन में माया की अवधारणा को एक महत्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है। इसके वास्तविक स्रोत के सम्बन्ध में बहुत मतभेद हैं। कुछ का कहना है की यह अवधारणा स्वयं शंकराचार्य के मस्तिष्क की उपज है पर कुछ अन्य दार्शनिकों का मानना है कि इसको शंकराचार्य ने बौद्ध दर्शन से प्राप्त किया है। लेकिन यदि हम गौर से देखें तो माया सिद्धांत के संकेत हमें बीज रूप में उपनिषदों में प्राप्त हैं। आर डी रानाडे ने अपनी पुस्तक, उपनिषदों के दर्शन का एक रचनात्मक सर्वेक्षण में माया के सिद्धांत का उद्‌गम उपनिषदों में ही बताया है। निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किए गए है।

(1) ईशोपनिषद, इसमें बताया गया है कि सत्य का मुख स्वर्ण पात्र से ढंका हुआ है दृ "हिरण्ययेन पात्रेण सत्यस्याविहितं" और यह इतना चमकीला है कि सत्य के वास्तविक स्वभाव पर दृष्टि जा ही नहीं पाती (१५)।

(2) कठ उपनिषद् इसमें कहा गया है कि अविद्या के भीतर रहते हुए भी अपने को विद्वान मानने वाले लोग ठीक ऐसे ही भटकते फिरते हैं जैसे अंधों का अनुसरण अंधे कर रहे हों (१६२.५)।

(3) मूंडक उपनिषद् इसमें बताया गया है की अविद्या जनित गाँठ को वही खोल सकता है जो अपने हृदय में ब्रह्म को स्थित पा लेता है। (२६२.१०)

(4) छान्दोग्योपनिषद इसमे कहा गया है कि विद्या शक्ति है और अविद्या नपुंसकता है। (१६१०) छान्दोग्य यह भी कहता है कि आत्मन ही एकमात्र सत्य है, इसके अतिरिक्त्ब सबकुछ मात्र एक शब्द, एक पर्याय, एक नाम है।

(5) वृहदारण्यक उपनिषद् इस उपनिषद् में अवास्तविक की असत से और अन्धकार की मृत्यु से तुलना की गई है। (१६३.२८) वृहदारण्यक उपनिषद् में ही "मानों द्वैत" कहकर यह बताया गया है कि वास्तव में द्वैत है नहीं। द्वैत केवल आभास है, माया है।

(6) प्रश्न उपनिषद् इसमें स्पष्ट कहा गया है कि हम जबतक अपनी वक्रता, झूठ और माया को नहीं तोड़ते, ब्रह्म लोक तक पहुँच नहीं सकते (१६१६)

(7) श्वेताश्वेतर उपनिषद् इसमें ईश्वर को "मायिन" बताया गया है जो अपनी शक्ति से विश्व का सृजन करता है। (4 / 19)

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि उपनिषदों में सार्विक अज्ञान या माया का कोई सुचिन्त्य सिद्धांत निर्मित नहीं हुआ है। केवल इतना भर संकेत किया गया है कि ईश्नर ने अपनी शक्ति से विश्व का निर्माण किया और यह शक्ति "मायिन" है अर्थात मायावी है। इस मायावी जगत से जब तक छुटकारा नहीं मिलता कोई भी ब्रह्मानुभूति प्राप्त नहीं कर सकता।

4.6 उपनिषदों की व्यावहारिक शिक्षा

उपनिषदों की व्यावहारिक शिक्षा का उद्देश्य ब्रह्मानुभूति है और इसे प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अपने विचार और कर्म में सुधार लाना होगा ताकि जो महत्ता वह व्यावहारिक जगत देता है, धीरे धीरे कम हो सके और उसकी प्रवृत्ति परम सत्ता पर केन्द्रित हो सके। इसके लिए मोटे तौर पर दो उपाय अपनाने होंगे। एक तो वैराग्य का अभ्यास और दूसरे ब्रह्मानुभूति के लिए ज्ञान मार्ग।

(1) वैराग्य वैरास्य की प्रवृत्ति को विकसित करना और वैराग्य का अभ्यास करना उपनिषदो की शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है । वैराग्य का अनुशासन अहंकार का नाश करता है। अहंकार सारी बुराइयों की, पाप की जड़ है। वेराग्य द्वारा हम अपनी संकीर्ण और स्वार्थी प्रवृत्तियों को, जो अहंकार से पनपती हैं, वश में कर सकते हैं। इसके लिए जाहिर है कि एक लम्बा और प्रतिबद्ध प्रशिक्षण चाहिए उपनिषदों में यह प्रशिक्षण कैसे दिया जाए और क्या हो इसपर कोई विशेष चर्चा नहीं की गई है किन्तु यह प्रशिक्षण महत्वपूर्ण है यह स्पष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है उस समय वैराग्य के प्रशिक्षण से सभी परिचित थे और उसे बताने की जरूरत उपनिषदों में शायद महसूस ही नहीं की गई। फिर भी वृहदारंयक उपनिषद् में एक जगह बहुत ही दिलचस्प तरीके से प्रशिक्षण के प्रश्न को उठाया गया है। इसमें दुनिया के तीन तरह के लोगों का, जो सभी प्रजापति की संतान है, वर्गीकरण किया गया है। उन्हें क्रमश देव, मनुष्य और असुर कहा गया है। ये तीनों अपने पिता के पास हिदायतें लेने जाते हैं की उन्हें किस तरह व्यवहार करना चाहिए। तीनों को अलग अलग एक ही शब्द द्वारा हिदायतें दी गईं। असुर को कहा गया की उसे मनुष्य के प्रति दया रखनी चाहिए (दया)। मनुष्य से कहा गया कि तुम्हें उदार होना चाहिए (दत्त)। तथा देव से कहा गया तुम्हें आत्म–नियंत्रण रखना चाहिए (दम्भ)

(2) ज्ञान पाप क्योंकि सत्ता के सम्बन्ध में अज्ञान से होता है, अतः उसे हटाने के लिए सम्यक ज्ञान ही एक मात्र तरीका है। वैराग्य की जो अनुशंसा की गई है वह भी इसी अज्ञान को हटाने के लिए ही है। वैराग्य सम्यक ज्ञान की पूर्व–मान्यता है। उपनिषद् कहता है कि चुप, शांत, सहनशील और विनम्र हो जाने के बाद हमें आत्मन में आत्मा दिखाई देनी चाहिए। इसके लिए क्रमशः गुरु की बात "सुनना", उसपर "मनन करना" और फिर "निदिध्यासन" आवश्यक है। अंततः निदिध्यासन अर्थात ध्यान केन्द्रित करने से ही अनेकता में एकता की अनुभूति हो पाती है। उपनिषदों में निदि ध्यासन के लिए अनेक प्रकार के अभ्यास बताए गए है जिन्हें उपासना की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषद्–काल में यज्ञ का स्थान ज्ञान ने ले लिया। और प्रजापति की जगह परम ब्रह्म ने ले ली जो स्वभावतः आध्यात्मिक और आनंदमय है।

4.7 सारांश

ब्रह्म का स्वरूप वाह्य जगत का अंतिम सत्य ब्रह्म है। नेति नेति पद्धति से विषयगत खोज करते हुए सूर्य, चन्द्र, अग्नि जल प्रकाश को एक–एक करके नकारते हुए, इन सबके अधिष्ठान और अंतिम सत्ता को ब्रह्म कहा। इसी ब्रह्म से सारा जगत उत्पन्न हुआ है। ब्रह्म अपने से ही जगत उत्पन्न करता है और फिर अपने में ही समेत लेता है।

आत्मन और ब्रह्मन के बीच, जगत से परे और उसका आधार होने के कारण, कोई अंतर संभव नहीं है। अंतर केवल जागतिक वस्तुओं में ही संभव हो सकता है। अतः आत्मन और ब्रह्मन का समीकरण हुआ और इस तरह उपनिषदों में आध्यात्मिक एकत्ववाद की नींव पडी।

ब्रह्म में आत्मिक अनात्मिक का द्वैत समाप्त हो जाता है। सभी कुछ आध्यात्मिक, अर्थात आत्मा के स्वभाव का हो जाता है। अहम् ब्रह्मास्मि जैसे उपनिषदों के महावाक्य इसी सत्य की अभिव्यक्तियाँ हैं।

ब्रह्म के दो रूप हैं। सप्रपंच ब्रह्म तथा निष्प्रपंच ब्रह्म। उपनिषद् 'सर्व खल्विदम ब्रह्म' तथा 'तज्जलान' कहकर बताता है कि ब्रह्म से ही विश्व पैदा होता, उसी में विलीन होता और विश्व को आधार प्रदान करता है। पर उपनिषद् में निष्प्रपंच ब्रह्म के भी संकेत हैं जिसमें उसे रूप रस गंध आदि से मुक्त करके अनिर्वचनीय कर दिया गया है। परन्तु इससे ब्रह्म शून्य नहीं हो गया है बल्कि वह पारमार्थिक सत्ता को प्राप्त है। वह न होता तो जगत भी न होता।

सृष्टि की उत्पत्ति के सन्दर्भ में कहा गया है कि जगत ब्रह्म से उत्पन्न होता है और उसी में विलीन हो जाता है। यह ठीक ऐसे ही है जैसे मकडी अपने से ही जाला बुनती है और अपने में ही समेत लेती है। एक अन्य उपनिषद्, सुबाल, में बताया गया है कि प्रारम्भ में न सद न असद था और न ही सदासद इससे तमस की उत्पत्ति हुई। तमस से ही भूतादि बने। जगत के सभी पदार्थ इसी के विकार हैं। और ये विकार नाम और शब्द मात्र हैं। उपनिषदों में सृष्टि संबंधी वार्ता ने बाद में दो अलग अलग सिद्धांतों को जन्म दिया, परिणामवाद और विवर्तवाद।

माया का सिद्धांत उपनिषदों में माया या सार्विक अविद्या का हमें कोई सुचिन्त्य विचार नहीं मिलता। केवल इतना संकेत किया गया है कि ईश्वर ने अपनी शक्ति से जगत का निर्माण किया और यह शक्ति "मायिन" है। माया अविद्या है और वास्तविक शक्ति विद्या है।

व्यावहारिक शिक्षा के लिए उपनिषदों में वैराग्य की शिक्षा और ज्ञान मार्ग का प्रावधान किया गया है। वैराग्य से अहंकार का नाश होता है जो पाप का कारण है। इसी की वजह से हम परम एकत्व को नहीं जान पाते और अविद्या में पड़े रहते हैं। अविद्या का नाश केवल ज्ञान–मार्ग से ही हो सकता है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन ज्ञान मार्ग के ये तीन सोपान हैं।

4.8 शब्दावली

(1) निदिध्यासन – आत्मानुभूति (ब्रह्म–साक्षात्कार} के लिए ध्यान को केन्द्रत करने का अभ्यास ।

(2) उपासना – ज्ञानमूलक आराधना ।

(3) मायिन – माया का आवरण हो जिस पर ।

(4) परिणामवाद – कारण का कार्य में सचमुच बदल जाना। जैसे मिट्टी से घडा बनाना।

(5) विवर्तवाद – कारण का कार्य में वस्तुतः बदलना नहीं, केवल ऐसा आभास मात्र होना।

(6) सप्रपंच ब्रह्म – ब्रह्म की प्रपंच {विश्व} सहित अवधारणा

(7) निष्प्रपंच ब्रह्म – ब्रह्म की प्रपंच ताहित अवधारणा

(8) शून्य – वह अंतिम सत्ता जो पूर्णरूपेण रिक्त हो

(9) सार्विक अज्ञान – माया

(10) भूतादि – पञ्चभूत और तन्मात्र (वायु, अग्नि जल पृथ्वी और आकाश)।

(11) ब्रह्म – अंतिम एक मात्र आध्यात्मिक सत्ता

(12) आत्मन – व्यक्ति की अंतिम सत्ता जिसका समीकरण ब्रह्म से हुआ है।

4.9 प्रश्नावली

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए। इस प्रसंग में आत्मन और ब्रह्मन के समीकरण के महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।

(2) सप्रपंच ब्रह्म और निष्प्रपंच ब्रह्म नें अंतर स्पष्ट कीजिए। उपनिषद् किस प्रकार के ब्रह्म को स्वीकार करता प्रतीत होता है?

(3) उपनिषदों के अनुसार विश्व की सृष्टि किस प्रकार हुई, इस पर प्रकाश डालिए।

(4) उपनिषदों में हमें क्या और किस प्रकार की व्यावहारिक शिक्षा मिलती है, विस्तार से बताइए।

लघु उत्तरीय प्रश्न –

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए–

(1) आत्मन और ब्रह्म का समीकरण

(2) उपनिषदों में मायावाद

(3) सप्रपंच ब्रह्म

(4) निष्प्रपंच ब्रह्म

वस्तुनिष्ट प्रश्न

निम्नलिखित वाक्यों में सही पद का चुनाव कर रिक्त स्थान भरिए –

(1) उपनिषदों के एकत्व्वाद का स्वरूप ——————————है। (आध्यात्मिक / भौतिक)

(2) उपनिषदों की व्यावहारिक शिक्षा में ——————————पर आग्रह है । (भक्ति मार्ग / ज्ञान मार्ग)

(3) उपनिषदों में ब्रह्म की धारणा के साथ——————————का समीकरण हुआ है। (प्रकृति / आत्मन)

(4) उपनिषदों में माया के स्वरूप की विस्तृत रूप से चर्चा ——————————है । (की गई / नहीं की गई)

पाठ्य पुस्तकें

(1) Hiriyanna, M: Outlines of Indian philosophy (Hindi version also available)

(2) Sharma, C.D.,: A Critical Survey of Indian Philosophy (do)

(3) Das Gupta S.N., A History of Indian Philosophy Vol- 1 (do) 23

****

MAPH-101
भारतीय दर्शन का परिचय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 2

भारतीय दर्शन

इकाई – 1 45–54

ज्ञानमीमांसा

इकाई – 2 55–62

तत्वमीमांसा

इकाई – 3 63–70

आचार मीमांसा

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.–101(**MAPH-101**)

सरंक्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह – कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

डॉ.आर.पी.एस. यादव	–	निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.)	–	दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो.दीप नारायण यादव	–	दर्शनशास्त्र विभाग, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. द्वारिका	–	विभागाध्यक्ष, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. सभाजीत यादव	–	दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

लेखक

प्रो. सुरेन्द्र वर्मा	–	सेवानिवृत्त, 10 एचआईजी / 1 सर्कुलर रोड, प्रयागराज।
डॉ. श्यामकान्त	–	असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला0 वि.वि. प्रयागराज।
डॉ. अतुल कुमार मिश्र	–	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

सम्पादक

प्रो. जटाशंकर	–	पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

परिमापक

प्रो. आर.पी.एस. यादव	–	निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

समन्वयक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र	–	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

2023 (मुद्रित)
© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि अण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ें आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।
प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 211021
प्रकाशक – कुलसचिव, विनय कुमार, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज –2023
मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी, मथुरा – 281003.

भारतीय दर्शन

खण्ड–2

खण्ड परिचय

आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन के रुप में द्विविभाजित करने की परम्परा है जो वेद–प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं वे आस्तिक हैं तथा जो वेद–प्रामाण्य को स्वीकार नही करते हैं वे नास्तिक दर्शन है। नास्तिक दर्शन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण दर्शन है– चार्वाक दर्शन। चार्वाक दर्शन मूलतः एक प्रत्यक्षवादी एवं भौतिकवादी दर्शन है तथा नीतिमीमांसीय दृष्टि से यह स्थूल इन्द्रिय सुखवादी दर्शन है जो 'खाओं, पीओ, एवं मौज करों (Eat, Drink and Be marry) के सिद्वान्त में विश्वास करता है।

किसी भी दर्शन के तात्विक विचारों को ज्ञानमीमांसा, तत्वमीमांसा एवं नीतिमीमांसा के रुप में वर्गीकृत करते है। ज्ञान मीमांसा दृष्टि से चार्वाक दर्शन 'प्रत्यक्ष को' एक मात्र प्रमाण मानता है। 'प्रत्यक्षमेंक प्रमाण' चार्वाक दर्शन को यह मूल उद्घोष है। चार्वाक दर्शन इन्द्रिय और अर्थ (विषय) के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष मानता है। चार्वाक दर्शन रुप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इस पंचविध इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही प्रमाण सिद्व है। अन्य सब कल्पना–प्रसूत है। जिस विषय को हम देख नही सकते, चख नही सकते, सूँध नही सकते, छू नही सकते, सुन नहीं सकते, वह वस्तु अस्तित्वान नही है।

चार्वाक दर्शन अनुमान को मानता और प्रमाण के रुप में अनुमान का तीव्र खण्डन करता है। चार्वाक के अतिरिक्त भारतीय दर्शन का कोई ऐसा सम्प्रदाय नहीं है जिसने अनुमान को प्रमाण न माना हो। नास्तिक दर्शनों में जैन एवं बौद्ध दर्शनों ने भी अनुमान के प्रमाणत्व को स्वीकार किया है। वस्तुतः अनुमान ज्ञान का परोक्ष साधन है जिसमें हेतु के प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर अप्रत्यक्ष साध्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता है जैसे पर्वत पर दृश्य धूम के आधार पर पर्वत पर अग्नि का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान है जो 'व्याप्ति' पर आधारित है। जहाँ–जहाँ धूम है, वहाँ–वहाँ अग्नि है। इस प्रकार का साह्चर्य नियम व्याप्ति कहलाता है जो धूम और अग्नि के नियम संबंध के कारण सिद्ध होता है परन्तु चार्वाक दर्शन व्याप्ति के ज्ञान को निश्चयात्मक नहीं मानता। चार्वाक के अनुसार व्याप्ति संबंध (धूम और अग्नि के बीच सार्वभौम एवं अनिवार्य संबंध) न तो प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध होता है क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान केवल विशेषों तक एवं वर्तमान काल तक ही सीमित है, अतः हम सीमित प्रत्यक्ष के आधार पर किसी भी प्रकार के सार्वभौम संबंध को स्वीकार नही करते। पुनः व्याप्ति की सिद्ध अनुमान द्वारा भी नहीं कर सकते क्योंकि अनुमान स्वयं ही प्रमाण नही है एवं फिर इसमें अन्योन्याश्रयत्व दोष आता है। शब्द के प्रमाण न होने के कारण व्याप्ति की सिद्धी शब्द प्रमाण द्वारा भी नही हो सकती। इस प्रकार व्याप्ति के सिद्ध न होने पर उस पर आधारित अनुमान अप्रामाणिक हो जाता है। अनुमान प्रमाण के साथ ही चार्वाक ने शब्द एवं उपमान का भी प्रमाण।

आत्मा के संदर्भ में चार्वाकों के मत अन्यन्य भारतीय दर्शनों से भिन्न है। अन्य दर्शनों में आत्मा को एक अभौतिक, अजर, अमर एवं नित्य तत्व मानते है परन्तु चार्वाक दर्शन शरीरेत्तर नित्य तत्व के रुप में आत्मा के अस्तित्व का खण्डन करता है। चार्वाक 'भूतचैतन्यवाद' को स्वीकार करता है जिसके अनुसार चैतन्य की उत्पत्ति चतुर्भूतों के विभिन्न सम्मिश्र.ा से हुआ है। उनका मानना है कि चैतन्य से

विशिष्ट शरीर ही आत्मा है (चैतन्य विशिष्ट देह एवं आत्मा)। चार्वाक कहते हैं कि जिस प्रकार गाय द्वारा खाई जाने वाली घास से दूध उत्पन्न होता है, पान, कत्था, सुपाड़ी, चूना मिलाकर खाने से लालिमा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार चारों महाभूतों के मिश्रण से चैतन्य उत्पन्न होता है।

चार्वाक दर्शन ईश्वर को भी स्वीकार नही करता। प्रायः विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों में सृष्टि के निर्माता, व्यवस्थापक एवं संहारक के रुप में तथा विभिन्न मूल्यों के संरक्षक के रुप में ईश्वर की सत्ता मानते हैं परन्तु चार्वाक दार्शनिक ईश्वर की कल्पना को मानसिक भ्रान्ति मानता है। तब प्रश्न है कि सृष्टि का निमित्तकारण कौन है? चार्वाक कहते है कि सृष्टि का कोई निमित्त कारण नही है वरन् चारों महाभूत अपने स्वभाव से ही संयुक्त होकर सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। पुनः चार्वाक दर्शन की आचार मीमांसा भी के रुप खण्डन करता है।

विश्व के आधारभूत तत्वों की विवेचना को तत्वमीमांसा कहते हैं। प्रत्यक्षवादी एवं अनुभववादी ज्ञान मीमांसा को स्वीकार करने के पश्चात् चार्वाक दर्शन भौतिकवादी या जड़वादी तत्वमीमांसा को स्वीकार करता है। वस्तुतः चार्वाक दर्शन की भौतिकवादी तत्वमीमांसा उनकी प्रत्यक्षवादी ज्ञानमीमांसा का ही तार्किक निष्कर्ष है। भौतिकवाद वह सिद्धान्त है जो जड़ को ही सृष्टि का एकमात्र एवं अन्तिम तत्व मानता है। इनके अनुसार चेतना की उत्पत्ति भी जड़ तत्व के विभिन्न अनुपातों में सम्मिश्रण से होती है। इस प्रकार चार्वाक दर्शन चेतना को भी जड़ से उत्पन्न मानता है जिसे 'भूतचैतन्यवाद' के रुप में जाना जाता है। इस प्रकार चार्वाक दर्शन ईश्वर, आत्मा, परलोक अदृष्ट जैसे उच्च तत्वों को निम्न तत्वों में परिनीत करके एक स्थूल दृष्टि का परिचय देता है जो भारतीय दर्शन की आध्यात्मिक प्रवृत्ति के प्रतिकूल है।

इस प्रकार चार्वाक दर्शन में जड़वाद या भौतिकवाद को स्वीकार करते हुए ईश्वर, जीव एवं जगत की व्याख्या की गई है। जगत् या सृष्टि के सन्दर्भ में चार्वाकों की मान्यता है कि चार महाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) से ही सृष्टि की उत्पत्ति को स्वीकार करता है। उल्लेखनीय है कि भारतीय दर्शन में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंचमहाभूतों को स्वीकार करता है परन्तु चार्वाक दर्शन आकाश को नही मानता क्योंकि यह प्रत्यक्षगम्य नही है। चार्वाक दर्शन पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार महाभूतों से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। ये जगत के उपादान कारण है। इन महाभूतों के विभिन्न अनुपातों में सम्मिश्रण से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। इसके अतिरिक्त चार्वाकों ने भौतिक शरीर इन्द्रियों आदि की उत्पत्ति भी इन्हीं महाभूतों से स्वीकार किया है। यह उसके प्रत्यक्षवाद पर निर्भर है। चार्वाक दर्शन मनुष्य के भौतिक स्वरुप पर बल देता है। उनका आचार–दर्शन 'खाओं, पीओं एवं मौज करों' के उद्घोष पर आधारित है। चार्वाक दर्शन स्वार्थपरक स्थूल इन्द्रिय सुखवाद को स्वीकार करता है जिसके अनुसार अपना ऐहिक सुख ही हमारे जीवन का परम साध्य है। सभी सुख समान हैं उनमें केवल मात्रात्मक भेद है, गुणात्मक भेद नही है।

मानव जीवन के चार पुरुषार्थो– धर्म, अर्थ, काम मोक्ष में से काम ही एक मात्र पुरुषार्थ है (कामः एवैकः पुरुषार्थः)। अर्थ, काम की सिद्धि का साधन मात्र है। पुनः चार्वाक दर्शन मोक्ष को स्वीकार नही करता तथा मृत्यु को ही मोक्ष स्वीकार करता है (मरणमेव अपवर्गः)। यदि मोक्ष समस्त दुःखों का आत्यन्तिक अभाव है तो वह इस जीवन में कभी प्राप्त नही हो सकता है क्योंकि यदि जीवन है तो दुःख भी

है। अतः मृत्यु ही मोक्ष है क्योंकि दुःखों का आत्यान्तिक अभाव मृत्यु के पश्चात् ही सम्भव है।

चार्वाक धर्म को मानसिक भ्रान्ति के रुप में ही स्वीकार करता है। धर्म पुरुषार्थ नही है। धार्मिक मूल्यों के रुप में ईश्वर आत्मा का कोई अस्तित्व नही है। धार्मिक बातें मनुष्य को बहकाने का साधन है। धर्म एवं समस्त धार्मिक अनुष्ठान मात्र ब्राह्म्णों की अजीविका का साधन है। चार्वाक दार्शनिक इस क्रम में वेदों की निन्दा करते हैं तथा उन्हें प्रामाणिक नही मानते। वे वैदिक कर्मकाण्डों को ब्राह्म्णों की अजीविका का साधन मानते हैं। वेद नित्य नही हैं, वरन् धूर्त पुरोहितों की कृति है। चार्वाक दार्शनिक वैदिक कर्मकाण्ड, पशुबलि एवं श्राद्ध आदि कर्मो की भी आलोचना किया है। वे कहते है कि यदि यज्ञ में मारा गया पशु सीधे स्वर्ग जाता है तो यज्ञकर्त्ता अपने पिता को स्वर्ग पहुँचाने के लिए उसकी बलि क्यों नही करता है। पुनः यदि श्राद्ध में पितरों के नाम से अर्पित भोजन पितरों तक पहुँचता है तो फिर यात्रा पर जाते समय पथिक को भोजन ले जाने की आवश्यकता क्यों होती है। वह स्वजनों को यही तकनीक अपनाने के लि, क्यों नही कह देता।

इस प्रकार चार्वाक दार्शनिक अपने सामान्य अनुभव एवं तर्क के आधार पर एक दार्शनिक निकाय का प्रवर्तन किया जो कि तत्कालीन आस्थामूलक दर्शन के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि चार्वाक दार्शनिकों का कोई ग्रन्थ वास्तव में प्राप्त नही है। विभिन्न दर्शनों में इसे पूर्वपक्ष के रुप में चार्वाक मतों को उद्धृत किया गया है। चार्वाक दर्शन के विषय में हमारी जानकारी का स्रोत यही है। अतः यह संभावना भी हो सकती है कि चार्वाक दर्शन के अच्छे पक्षों को न उद्धृत करके उसके नाकारात्मक पक्षों का अतिरंजित वर्णन किया गया हो।

****

इकाई–1

ज्ञानमीमांसा

<u>इकाई की रूपरेखा</u>

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है

1.4 अनुमान–खण्डन

1.5 शब्द प्रमाण का खण्डन

1.6 उपमान–खण्डन

1.7 समीक्षा एवं मूल्यांकन

1.8 सारांश

1.9 संभावित प्रश्न

1.1 उद्देश्य

भारतीय दर्शन अपने मूल स्वरुप में एक आध्यात्मिक दर्शन है। परन्तु चार्वाक दर्शन भारतीय दार्शनिक परम्परा के भौतिकवादी या जड़वादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। प्रस्तुत अध्याय में चार्वाक दर्शन के ज्ञानमीमांसीय, तत्वमीमांसीय एवं नीतिमीमांसीय पक्षों से छात्र परिचित हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन में इसके स्थान एवं महत्व को भी रेखांकित कर सकेंगे।

चार्वाक दर्शन की सामान्य जानकारी एवं उसके उद्भव–श्रोतों को अध्ययन करने के पश्चात् अब हम चार्वाक के ज्ञान–सिद्धान्त का अध्ययन इस ईकाई के अन्तर्गत करेगे। यथार्थ ज्ञान (प्रमा), ज्ञान के साधनों (प्रमाण) एवं ज्ञान की सत्यता (प्रामाण्य) का अध्ययन ज्ञानमीमांसा का प्रमुख विषय है। चार्वाक प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानते हैं तथा अनुमान, शब्द, उपमान आदि समस्त प्रमाणों का जोरदार खण्डन करतें हैं। प्रस्तुत इकाई में हम इनका अध्ययन अलग–अलग बिन्दुओं के रुप में करेगे।

1.2 प्रस्तावना

चार्वाक दर्शन जड़वाद है। जड़वाद का तात्पर्य उस दृष्टिकोण से है। जिसमें जड़ तत्व को ही सृष्टि का आधारभूत तत्व माना जाता है। यहाँ तक कि चेतना की उत्पत्ति भी जड़ से ही स्वीकार की जाती है। चार्वाक दर्शन अपने मूल स्वरुप में एक प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण है। वेदों एवं उपनिषदों के प्रत्ययवादी–आदर्शवादी दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया में लोकायत दर्शन उत्पन्न हुआ जो सामान्य

लौकिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। ब्राह्म्णों की श्रेष्ठता के परिणाम स्वरुप समाज का जातीय रुप में विघटन, अस्पृश्यता आदि विघटनकारी विचारों ने चार्वाक मत को लोकप्रियता प्रदान किया। वैदिक कर्मकाण्डों का व्यय साध्य स्वरुप एवं उसका दुरुपयोग, पशुबलि आदि ने भी चार्वाक दर्शन के जनतांत्रिक स्वरुप को प्रश्रय प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

सुरगुरु बृहस्पति को चार्वाक दर्शन का प्रणेता स्वीकार किया जाता है। किंबदन्ती है कि सुरगुरु बृहस्पति ने ही असुरों के विनाश के लिए उनके बीच इस मत का प्रतिपादन किया। महाभारत के शान्तिपर्व में यह उल्लेख है कि चार्वाक नामक राक्षस ने इस मत का प्रतिपादन किया। कुछ विद्वान 'चार्वाक' की उत्पत्ति 'चर्व' धातु से स्वीकार किया है। जिसका तात्पर्य है चबाना अर्थात जो व्यक्ति ईश्वर, आत्मा, परलोक, तथा समस्त मूल्यों को चबा जाए वह चार्वाक है। कुछ अन्य विद्वान शब्द का विच्छेद 'चारु+वाक्' के रुप में करते हैं। जिसका अर्थ है मीठा वचन अर्थात यह मत ऊपर से देखने पर मीठा प्रतीत होता है। साथ ही इस मत का एक अन्य नाम 'लोकायत' प्राप्त होता है। लोकायत का अर्थ है लोक में विस्तृत। अर्थात यह मत जनसामान्य में फैला हुआ है। साथ ही इस मत का इहलौकिक दृष्टिकोण भी इसे लोकायतिक दर्शन सिद्ध करता है।

उल्लेखनीय है कि चार्वाकों से पूर्व भी जड़वादी दृष्टिकोंण दर्शन में यत्र–तत्र परिलक्षित होते हैं। वेदों–उपनिषदों में भी जड़वाद का आरम्भिक स्वरुप दिखाई पड़ता है। वैदिक दर्शन का प्रव्त्तिवादी दृष्टिकोण इसका बीजरुप माना जा सकता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में पंचकोशों के माध्यम से जिस विकास स्तर का निर्देश है, उसमें वस्तुतः निम्नतम स्तर पर अवस्थित अन्नमय कोश 'जड़ जगत' को ही अभिव्यक्त करता है। इसके अतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित प्रजापति एवं इन्द्र–विरोचन संवाद में प्रजापति ने 32 वर्ष की कठोर तपस्या के पश्चात् देह को ही आत्मा के रुप मानने का उपदेश विरोचन को दिया। महाभारत में भी भौतिकवाद की चर्चा है। महाभारत से पूर्व भी 'बाल्मीकि रामायण' में अयोध्या काण्ड में 'जाबालि' नामक बाह्मण ने राम को अयोध्या वापस लौटने के अनुनय के क्रम में जिस दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया, वह चार्वाक मत के काफी निकट है। किन्तु इन सबके बावजूद चार्वाक दर्शन ने भौतिकवाद को सुव्यविस्थत दर्शन का स्वरुप प्रदान किया।

वस्तुतः चार्वाक दर्शन का कोई सुव्यवस्थित ग्रन्थ हमें प्राप्त नहीं होता। बृहस्पति–सूत्र विलुप्त हो चुका है। अतः चार्वाक दर्शन संबंधी ज्ञान का मूल आधार वस्तुतः विविध दार्शनिक ग्रन्थों के पूर्वपक्ष हैं जिन्हें आलोचना के लिए उद्धृत किया गया है। यही कारण है कि यह संशय सदैव बना रहता है कि कौन सा मत चार्वाकों का वास्तविक मत है एवं किस विचार को अधिक बढ़ा–चढ़ा कर आलोचना हेतु रेखांकित किया गया है। जयराशि भट्ट के 'तत्वोपप्लव सिंह' ग्रन्थ में इस मत का वर्णन है। कृष्णपति मित्र ने अपने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक में इस मत का विवरण दिया है। माधवाचार्य के 'सर्व दर्शन संगृह' के प्रथम अध्याय में चार्वाक दर्शन का विवरण है। इस दर्शन के मुख्य पाँच सत्र अग्रलिखित हैं–

1. पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार तत्व हैं।

   (पृथिव्येप्तेजो वायुदिति तत्वानि)

2. इनके समुदाय से शरीर, इन्द्रिय एवं विषय बनते हैं।

   (तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषय संज्ञा)

3. जिस प्रकार कि.वादि से मादकता उत्पन्न होती है। उसी प्रकार जड़तत्वों के विभिन्न सम्मिश्रण से चैतन्य उत्पन्न होता है।

(किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्)

4. काम ही एक मात्र पुरुषार्थ है।

(कामः एवैकः पुरुषार्थः)

5. मृत्यु ही मोक्ष है।

(मरणमेव अपवर्गः)

चार्वाक दर्शन ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से प्रत्यक्षवादी दर्शन है। प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। जो वस्तु हमारे इन्द्रिय–प्रत्यक्ष में आती है वह सत् है(अन्य सब कुछ काल्पनिक है। हेतु के प्रत्यक्ष द्वारा किसी किसी भी साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। धूम के प्रत्यक्ष से हम अग्नि का अनुमान नहीं कर सकते क्योंकि धूम और अग्नि के बीच के अनिवार्य सम्बन्ध को हम किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते। हमारे कुछ अनुमान सत्य हो सकते है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अनुमान प्रमाण है। पुनः शब्द भी प्रमाण नहीं है क्योंकि शब्द या तो कर्णेन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष ही है या फिर वक्ता की आप्तता पर अनुमानित है। अनुमान स्वयं अप्रामाणिक है। उपमान भी प्रमाण नहीं है क्योंकि उपमान का आधार सादश्य ज्ञान है जा प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है। कुछ दर्शन उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं। परन्तु अनुमान प्रमाण नहीं है, अतः उपमान भी प्रमाण नहीं है।

चार्वाक दर्शन के प्रणेता बृहस्पति को माना चाता है तथा इस दर्शन की सुव्यवस्थित विवेचना हमें बृहस्पति– सूत्र से प्राप्त हो सकती थी। किन्तु बृहस्पति –सूत्र वर्तमान में अप्राप्य है। चार्वाक सिद्धान्त दार्शनिक ग्रंथों में बिखरे हुए मिलते हैं क्योंकि विविध दर्शनों ने चार्वाक दर्शन की विवेचना आलोचना हेतु पूर्वपक्ष के रुप में उद्धृत किया है। इन्हीं सामग्रियों का संकलन कर इस दर्शन को तीन बिन्दुओं में स्पष्ट किया जा सकता है– ज्ञानमीमांसा, तत्वमीमांसा एवं नीतिमीमांसा

1.3 ज्ञानमीमांसा

चार्वाक दर्शन अपनी प्रत्यक्षवादी ज्ञानमीमांसा के लिए विख्यात है। चार्वाक दर्शन की तत्त्वमीमांसा एवं नीतिमीमांसा इसकी ज्ञानमीमांसा से ही प्रादुर्भूत हैं। 'प्रत्यक्षमेव प्रमाणम' (प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है) चार्वाक दर्शन का मूल उद्घोष है। चार्वाक प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानते हैं। यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं (यथार्थानुभवः प्रमा) तथा प्रमा के साधन को प्रमाण कहते हैं। (प्रमाणकरणम् प्रमाणम्)

सामान्यतः इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् और श्रोत, ये पंच–ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। जिनके द्वारा हमें रुप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन्हीं प्रत्यक्षों से उदभूत है। चार्वाक द्वारा प्रत्यक्ष को एक मात्र प्रमाण मानने का मूल कारण उसकी निश्चयात्मकता है जो अनुमानादि अन्य प्रमाणों में उपलब्ध नहीं है।

चार्वाकों द्वारा प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानना भारतीय दर्शन में विशिष्ट है। प्रमाण–संख्या को लेकर भारतीय दर्शन में मतभेद है। बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान के रुप में दो प्रमाण, जैन एवं सांख्य दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान एवं

शब्द के रुप में तीन प्रमाण, न्याय दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द के रुप में चार प्रमाण, प्रभाकर (मीमांसक) प्रत्यक्ष–अनुमान, उपमान, शब्द एवं अर्थापति के रुप में पाँच प्रमाण तथा कुमारिल (मीमांसक) एवं अद्धैत वेदान्त प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापति एवं अनुपलब्धि के रुप में छः प्रमाण स्वीकार किए है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रमाणों के स्वरुप को लेकर भी मत वैभिन्न है, यथा न्याय के उपमन एवं मीमांसा के उपमान की संकल्पना में बहुत अन्तर है। न्याय ने शब्द को पौरुषेय माना है जबकि मीमांसा केवल अपौरुषेय वेद को ही शब्द प्रमाण मानता है।

1.4 अनुमान–खण्डन

चार्वाक ज्ञानमीमांसा में प्रत्यक्ष की एकमात्र स्वीकृति जितनी महत्वपूर्ण है उतनी ही महत्वपूर्ण अनुमान का खण्डन भी है। किसी हेतु या साधन के आधार पर उसके अदृश्य साध्य की सिद्धि करना अनुमान है। किसी पर्वत पर धूम को देखकर पर्वत में अग्नि का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान है। चूँकि अनुमान में प्रत्यक्ष के आधार पर अप्रत्यक्ष का ज्ञान प्राप्त किया जाता है और चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमामणिक मानता है। अतः चार्वाक अनुमान के खण्डन हेतु अग्रसर होता है।

चार्वाक द्वारा अनुमान के खण्डन से पूर्व अनुमान के स्वरुप पर प्रकाश डालना आवश्यक है। अनुमान दो शब्दों से मिलकर बना है– अनु+मान। 'अनु' का तात्पर्य है– पश्चात् एवं 'मान' का तात्पर्य 'ज्ञान' है। अतः अनुमान का अर्थ हुआ किसी ज्ञान के पश्चात् प्राप्त ज्ञान। पर्वत पर धूम के ज्ञान से पर्वत पर अग्नि का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान है। वस्तुतः किसी भी अनुमान के तीन पद होते हैं– पक्ष, हेतु एवं साध्य। जिस वस्तु को सिद्ध करना हमारा लक्ष्य है, वह साध्य है (अग्नि)। जिस साधन के द्वारा साध्य की सिद्ध होती है वह हेतु है (धूम)। साध्य की सिद्वी जिस अधिष्ठान या आधार में होती है। वह पक्ष है (पर्वत)। साध्य, हेतु एवं पक्ष की इस भारतीय संकल्पना की तुलना पाश्चात्य न्यायवाक्य (Syllogism) के मेजर टर्म (Major Term) मिडिल टर्म (Middle term) एवं माइनर टर्म (Minor term) से क्रमशः की जा सकती है। पुनः, हेतु का साध्य के साथ नियत संबंध होता है। अर्थात हेतु और साध्य का संबंध अवियोज्य या अपार्थक्य संबंध होता है। जहाँ हेतु होगा वहाँ साध्य अनिवार्य रुप से उपस्थित होगा। जहाँ–जहाँ और जब–जब धूम हागा, वहाँ–वहाँ और तब–तब अग्नि अनिवार्यतया उपस्थित होगी। हेतु और साध्य का यही नियत साहयर्च संबंध या अविनाभाव संबंध 'व्याप्ति संबंध' कहलाती है। (हेतु साध्ययोसौपाधिको नियतः साहचर्य संबंधो व्याप्ति)। यह व्याप्ति– संबंध ही अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान का मूलाधार है।

पुनः, यह कार्य व्याप्ति–संबंध कार्यकारण नियम पर आश्रित है। प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होता है। यदि कार्य है तो उसका कारण नियत है। कार्य से पूर्व कारण नियत रुप से उपस्थित रहता है। जहाँ कार्य है वहाँ कारण अनिवार्य है। जहाँ धूम (कार्य) है वहाँ अग्नि (कारण) अवश्य होगी क्योकि धूम (कार्य) और अग्नि (कारण) में व्याप्ति–संबंध है।

अतः अनुमान के लिए आवश्यक है कि पक्ष में विद्यमान हो तथा हेतु का साध्य के साथ व्याप्ति–संबंध हो। यदि हेतु पक्ष में उपस्थित है और हेतु और साध्य में व्याप्ति है तो हेतु के द्वारा पक्ष में साध्य का अनुमान होता है। उदाहरणार्थ पर्वत (पक्ष) में धूम (हेतु) को देखकर तथा धूम और अग्नि के व्याप्ति संबंध ज्ञान के आधार पर पर्वत में अग्नि का अनुमान होता है।

चार्वाक ने अनुमान के सभी रुपों का खण्डन किया है चाहे वह सामान्यानुमान (निगमन) हो या विशेषानुमान (आगमन)। चार्वाक द्वारा अनुमान के खण्डन का मूल आधार व्याप्ति–स्थापना का खण्डन अर्थात व्याप्ति की स्थापना कभी भी किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। चार्वाक कहते हैं कि प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का ज्ञान प्रथमतः प्राप्त करना अवैध है एवं संशय को जन्म देता है। जिसके विषय में निश्यचपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष से हम कुछ व्यक्तिविशेषों का संबंध अन्य व्यक्ति विशेषों (Indivisual) या घटना विशेषों से स्थापित कर सकते हैं। हमारा व्यक्तिगत प्रत्यक्षज्ञान अत्यंत सीमित एवं अपूर्णव्यापी होता है। इस सीमित साहचर्य संबंध के प्रत्यक्ष द्वारा हम सार्वभौम साहचर्य संबंध या व्याप्ति का निष्कर्ष नहीं निकाल सकते क्योंकि इस प्रयास में अविचारित सामान्यीकरण का दोष (The Fallacy of Hasty Generalization) आता है। भूत और भविष्य तो हमारे प्रत्यक्ष की सीमा से परे हैं और हमारा वर्तमानकालिक प्रत्यक्ष भी अत्यंत सीमित है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के आधार पर व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती।

परन्तु कुछ भारतीय दर्शन, यथा न्याय वैशेषिक दर्शन 'सामान्यलक्षण प्रत्यक्ष' के रुप में एक विशेष प्रकार के प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति की स्थापना का दावा करते हैं। उनके अनुसार हम विशेष–विशेष पदार्थो के प्रत्यक्ष द्वारा उनके सर्वसामान्यलक्षणों के आधार पर व्याप्ति की स्थापना करतें हैं। जैसे रसोईघर में विद्यमान धूम के चाक्षुष प्रत्यक्ष के समय संयुक्त संबंध द्वारा हमें 'धूमत्व' सामान्य का प्रत्यक्ष होता है। तथा उसी समय 'अग्नि' के चाक्षुष प्रत्यक्ष और 'अग्नि त्व' सामान्य का प्रत्यक्ष कर हम धूमत्व और अग्नितत्व में नित्य संबंध या व्याप्ति संबंध की स्थापना करते हैं। परन्तु चार्वाकों ने इस न्याय–सिद्धान्त का विरोध करते हुए प्रत्युत्तर दिया है कि प्रत्यक्ष से हमें विशेषताओं का ही ज्ञान होता है। सभी धूमाग्नि विशिष्ट स्थलों का प्रत्यक्ष हुए बिना व्याप्ति–संबंध की स्थापना नहीं हो सकती।

पुनः व्याप्ति को अनौपाधिक या उपाधिरहित होना चाहिए। अर्थात धूम और अग्नि का सामान्य संबंध किसी शर्त पर आधारित नहीं होना चाहिए। यह उपाधि दो प्रकार की होती हैं– 1. शंकित 2. निश्चित। चार्वाक कहते है कि उपाधिरहितता का ज्ञान भी प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकता। यदि उपाधि शंकित है तो व्याप्ति वैध नहीं होगी तथा यदि उपाधि निश्चित है तो व्याप्ति अवैध होगी।

द्वितीयतः यदि व्याप्ति को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करें तो अन्योन्याश्रय दोष आता है। क्योंकि अनुमान स्वंय व्याप्ति पर निर्भर है। अतः व्याप्ति की सिद्धि अनुमान द्वारा नहीं हो सकती ।

तृतीयतः, व्याप्ति की सिद्धि शब्द–प्रमाण के द्वारा भी नहीं हो सकती क्योंकि शब्द स्वयं प्रमाण नहीं है तथा यदि व्यप्ति की सीद्धि के लिए शब्द स्वंय प्रमाण की अनिवार्यता स्वीकार किया जाए तो अनुमान स्वतंत्र प्रमाण सिद्ध नहीं होगा। इस प्रकार चार्वाक दर्शन यह स्पष्ट करता है कि व्याप्ति की सिद्धि न तो प्रत्यक्ष रुप से न अनुमान से, न ही शब्द द्वारा जो सकती है। अतः व्याप्ति संबंध और उस पर अवलम्बित अनुमान भी असिद्ध और अप्रमाणिक हो जाता है।

चूँकि अनुमान, व्याप्ति पर आधारित हैं एवं व्याप्ति को सामान्यतया कार्यकारणभाव पर अधारित माना जाता है तथा कार्य एवं व्यापक भाव संबंध स्वीकार किया जाता है, अतः चार्वाकों ने कार्यकारण संबंध का भी प्रबल खण्डन किया है। पाश्चात्य अनुभववादी दार्शनिक ह्यूम ने कार्यकारण संबंध की सार्वभौमिकता एवं अनिवार्यता पर संशय व्यक्त किया था परन्तु ह्यूम से सहस्राधिक

वर्षों पूर्व चार्वाक दार्शनिकों ने अपनी प्रत्यक्षवादी ज्ञानमीमांसा के अंतर्गत कार्यकारण संबंध का खण्डन किया।

पाश्चात्य दर्शन में ह्यूम मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद (Psychological Atomism) को मानता है जिसके अनुसार हमारे सभी प्रत्यक्ष (Preception) अस्तित्व के पृथक–पृथक परमाणु है तथा हमारी आत्मा इनमें आत्मा इनमें कोई अनिवार्य संबंध नहीं देखती है। इसी प्रकार कार्य एवं कारण के प्रत्यय भी परस्पर पृथक्–पृथक् है जिनमें किसी प्रकार के सार्वभौम एवं अनिवार्य संबंध की सीद्धि न तो बुद्धि द्वारा एवं न ही अनुभव द्वारा ही हो सकती है। ह्यूम स्पष्ट करते हैं कि अनुभव द्वारा हम कार्य एवं कारण कहीं जाने वाली वस्तुओं में समीपता (Contiguity) एवं आनन्तर्य (Successional) तो महसूस कर सकते हैं किन्तु इनके बीच किसी प्रकार का सार्वभौम एवं अनिवार्य संबंध का अनुभव हमें नहीं होता। परन्तु प्रश्न है कि हम कार्य और कारण के बीच अनिवार्य संबंध की कल्पना कैसे कर लेते हैं। ह्यूम कहते है कि वस्तुतः कार्य एवं कारण के बीच नियत संयोग (Constant Conjunction) होता है तथा इस नियत संयोग की बार–बार आवृत्ति के फलस्वरुप हम आगमनात्मक (Inductively) रुप में फलस्वरुप अनिवार्य संबंध की कल्पना कर लेते हैं जो कि अयथार्थ है।

इसी प्रकार चार्वाक दार्शनिक भी मानते हैं कि प्रत्यक्ष हमें व्यक्ति विशेषों एवं घटना विशेषों (Individuals) का होता है। हमारा प्रत्यक्ष अत्यंत सीमित एंव संकुचित होता है। अतः हम अपने प्रत्य द्वारा दो विशेषों के सीमित साहचर्य को ही जान सकते हैं। इस सीमित साहचर्य से सार्वभौम साहयर्च का निष्कर्ष हम नहीं निकाल सकते। कार्य एवं कारण के सीमित साहचर्य के प्रत्यक्ष के आधार पर उनके बीच सार्वभौम एवं अनिवार्य संबंध की कल्पना निराधार एवं अवैध है।

इसके पश्चात् चार्वाक दार्शनिक स्पष्ट करतें है कि किस प्रकार हम धूम–अग्नि, कार्य–कारण आदि प्रत्ययों के बीच अनिवार्य एवं सार्वभौम संबंधों की स्थापना करते हैं। वे कहतें है कि जन्म से ही हमें धूम एवं अग्नि में व्याप्ति संबंध की जानकारी नहीं होती। सामान्य अनुभव में धूम एवं अग्नि के साहचर्य के ज्ञान द्वारा हम उनके बीच अनिवार्य संबंध की कल्पना कर लेते हैं। अग्नि के उष्ण स्पर्श की पुनरावृत्ति द्वारा बालक मनोवैज्ञानिक रुप से इसका आरोप कर लेता है कि अग्नि में दाहक शक्ति है।

1.5 शब्द प्रमाण का खण्डन

इसी क्रम में चार्वाक दार्शनिकों ने शब्द प्रमाण का भी खण्डन किया है। आप्त पुरुष के वचनों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है। उसे शब्द प्रमा कहते हैं। (अप्तोपदेशः शब्द)। तथा इस ज्ञान के करण या असाधारण साधन को शब्द प्रमाण कहते हैं। सभी आस्तिक दर्शन वेदों को शब्द प्रमाण मानते हैं। उनके सभी अस्तिक दर्शन वेदों को शब्द प्रमाण मानतें हैं। उनके अनुसार वेदवाक्य स्वतः प्रामाण्य है। परन्तु चार्वाक दार्शनिक शब्द प्रमाण को ज्ञान का स्वतंत्र एवं वैध साधन नही स्वीकार किया है। चार्वाक तर्क देते है। कि आप्त पुरुष के वचनों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है। वह भी इन्द्रिय–प्रत्यक्ष ज्ञान (श्रोत्रेन्द्रिय) द्वारा किया गया प्रत्यक्ष ही है। अतः तथाकथित शब्द प्रमाण भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है। दूसरे, किसी भी विश्वसनीय आप्त पुरुष के वाक्य वहाँ तक प्रमाणित माने जा सकते है जहाँ तक वे लौकिक पदार्थों का व.िन करते हैं परन्तु यदि कोई आप्त पुरुष अलौकिक

पदार्थो जैसे ईश्वर, आत्मा, परलोक, आदि पदार्थों का वर्णन करता है तो वह अप्रमाणित होता है।

पुनः चार्वाक दार्शनिक कहतें है कि किसी पुरुष की आप्तता के कारण उसमें श्रद्धा रखना एवं उसे प्रमाणिक मानना अनुमान द्वारा ही संभव है। कोई पुरुष आप्त है या नहीं यह हमारा अनुमान ही होता है। चूँकि अनुमान स्वंय प्रमाण नही है अतः अनुमानित शब्द अप्रामाणित हो जाता है। शब्द ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिस अनुमान की आवश्यकता होती है वह निम्नलिखित है।

सभी आप्तपुरुषों के वाक्य प्रमाण है।

यह आप्त पुरुष का वाक्य है।

अतः यह प्रमाण है।

इस प्रकार चार्वाक दार्शनिक शब्द प्रमाण एवं वेदों की प्रामाणिकता का ख. डन करते हैं। वेद मिथ्या एवं व्याघातक ज्ञान है। इनकी रचना धूर्त ब्राह्मणों ने अपनी आजीविका हेतु किया है। वेदों में जिन अलौकिक पदार्थो ईश्वर, आत्मा, परलोक, अमरता, कर्म, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य आदि का वर्णन है, उन्हें हम प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सत्यापित नहीं कर सकते। अतः वे अप्रामाणित ज्ञान है।

1.6 उपमान—खण्डन

पूर्व में देखी गयी वस्तु के समान होने के कारण जो ज्ञान होता है, उसे उपमिति कहते हैं और करण या असाधारण साधन को उपमान प्रमाण कहते हैं। उदाहरणार्थ ''नीलगाय गाय के समान होती है' इस वाक्य द्वारा गोसदृश पशु के रुप में नीलगाय नामक पशु का नवीन ज्ञान होता है। यह ज्ञान उपमान प्रमाण (Analogy) है। चार्वाक दार्शनिक उपमान के प्रमाणत्व का निषेध करते हैं। चार्वाक का तर्क है कि उपमान का मूल आधार सादृश्य ज्ञान है और सादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही होता है, अतः इसके लिए किसी स्वतंत्र उपमान प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है। पुनः कतिपय भारतीय दर्शन, यथा वैशेषिक दर्शन उपमान का अर्न्तभाव अनुमान में करते है परन्तु अनुमान वैध ज्ञान का साधन न होने के कारण उपमान भी अप्रमाणित हो जाता है।

1.7 ज्ञानमीमांसा की आलोचना

चार्वाक की प्रत्यक्षवादी ज्ञानमीमांसा भारतीय दर्शन में अत्यंत आलोचना का विषय रही है तथा विभिन्न दार्शनिकों ने इसकी कटु आलोचना की है। प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानना एवं प्रत्यक्षेतर प्रमाणों का खण्डन करना अनुचित एवं भ्रामक दृष्टिकोण का परिचायक है। सर्वप्रथम, प्रत्यक्ष ज्ञान भी पूर्ण रुप से निर्भ्रान्त नहीं है। रज्जु—सर्प, शुक्ति—रजत जैसे व्यक्तिगत भ्रम प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता में संदेह पैदा करते है। पुनः प्रत्यक्ष को यर्थाथ ज्ञान मानने में चार्वाक स्वंय एक प्रकार का अनुमान करतें हैं। 'जहाँ—जहाँ प्रत्यक्ष है, वहाँ—वहाँ यथार्थ ज्ञान है, यह एक व्याप्ति वाक्य है जिसकी स्थापना के कारण ही कोई विशिष्ट प्रत्यक्ष यर्थाथ ज्ञान माना जाता है।

जैन दार्शनिकों की आपत्ति है कि अनुमान के खण्डन हेतु चार्वाकों के तर्क आत्मव्याघतक है। यदि चार्वाक से प्रश्न किया जा, कि वे प्रत्यक्ष को ही क्यों प्रमाण मानते हैं। तो वे या तो मौन रहेंगे या इसके लिए कोई युक्ति देंगें। यदि वे मौन रहते है तो स्पष्टतः उनके पास अपने मत के लिए कोई प्रमाण नहीं और यदि वे इसके लिए कोई युक्ति देंगें तो वे प्रकारान्तर से अनुमान ही करते हैं।

पुनः चार्वाक द्वारा अनुमान–खण्डन स्वंय भी एक व्याप्ति है, अतः अनुमान है जिसका रुप निम्न है–

''कुछ अनुमान भ्रममूलक है अतः सभी अनुमान भ्रममूलक है।''

बौद्धों के मतानुसार चार्वाक अनुमान के माध्यम से ही यह जानतें है कि अन्य मतावंलबी अनुमान को प्रामाणिक मानते हैं। वस्तुतः अनुमान तर्को या विचारों की श्रृखंला है। जिसका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में हम केवल शब्दों के माध्यम से उनके विचारों का अनुमान कर सकते हैं। अतः अनुमान का खण्डन स्वयं में एक अनुमान की प्रक्रिया बन जाता है। यहाँ बौद्धों का परामर्श है कि यदि कोई व्यवहारिक असंगति उत्पन्न न हो तो चार्वाकों को संदेह का परित्याग कर देना चाहिए।

पुनः, शब्द एवं उपमान प्रमाण के खण्नार्थ चार्वाकों के तर्क भी प्रकरान्तर से अनुमान पर ही आधारित है। शब्द ज्ञान के अभाव में हमारा ज्ञान सीमित रह जाएगा। यह संभव नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष पर आश्रित रहे। चार्वाक तर्को के आधार पर शब्द प्रमाण का खण्डन करते है तो वह स्वयं में शब्द प्रमाण ही है। पुनः आप्तवाक्यों को नितांत अग्राह्य घोषित करना सांसारिक व्यवहार एवं नैतिक व्यवस्था को ध्वस्त करना है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के संदर्भ में दार्शनिक मतैक्य नहीं है कि यह सभी युक्तियाँ चार्वाकों की ही हैं। प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना सामान्य दृष्टिकोण के अनुरुप ही है। शबर स्वामी आदि मीमांसको ने भी प्रत्यक्ष के सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना है इसके साथ ही अनुमान का तार्किक खण्डन करके चार्वाकों ने भारतीय दर्शन को रुढ़िवाद एवं अंधविश्वास से बचा लिया है। भारतीय दर्शन में वेदों एवं उपनिषदों में व्यक्त गूढ़ रहस्यात्मक ज्ञान की प्रतिक्रया में चार्वाक प्रत्यक्षवाद उत्पन्न हुआ। इससे भारतीय दर्शन में एक वैचारिक स्वतंत्रता एवं समीक्षात्मक दृष्टिकोण का विकास हुआ जिससे भारतीय दर्शन संपुष्ट एवं समृद्ध हुआ।

1.8 सारांश

- प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् (प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है)
- चार्वाक अनुमान, शब्द एवं उपमान को यथार्थ ज्ञान (प्रभा) का साधन नहीं मानते।
- अनुमान व्याप्ति पर निर्भर है और व्याप्ति की सिद्धि किसी भी साधन से संभव नहीं है।

- शब्द को कर्णेन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष मान सकते है। परन्तु आप्त पुरुष द्वार अलौकिक पदार्थो (ईश्वर, आत्मा, परलोक) का वर्णन अप्रामाणिक है।
- उपमान का आधार सादृश्य है और सादृश्य–ज्ञान प्रत्यक्षान्तर्गत है। अतः उपमान भी स्वतंत्र प्रमाण नहीं है।

1.9 उपयोगी पुस्तकें

(1) Indian Philosphy vol I- (सर्वपल्ली राधाकृष्णन)

(2) भारतीय दर्शनः आलोचना एवं अनुशीलन (चन्द्रधर शर्मा)

(3) भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रुपरेखा (राममूर्ति पाठक)

(4) भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण (प्रो. संगम लाल पाण्डेय)

1.10 बोध प्रश्न

प्रश्न 1 – चार्वाक दर्शन की प्रमाणमीमांसा का मूल्यांकन करें।

____
____
____

प्रश्न 2 – चार्वाक दर्शन की प्रत्यक्षवादी ज्ञानमीमांसा को समझाइए। चार्वाक कृत अनुमान–खण्डन का मूल्यांकन कीजिए।

____
____
____
____

प्रश्न 3 – चार्वाक द्वारा किया गया अनुमान खण्डन आत्मत्याघातक है? मूल्यांकन करें।

____
____
____
____

इकाई–2

तत्वमीमांसा

<u>इकाई की रूपरेखा</u>

2.1 उद्देश्य
2.2 प्रस्तावना
2.3 सृष्टि
2.4 आत्मविषयक मत
2.5 ईश्वर का निषेध
2.6 तत्वमीमांसा की अलोचना, वं मूल्यांकन
2.7 सारांश
2.8 संभावित प्रश्न

2.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में हम चार्वाक दर्शन की जड़वादी तत्वमीमांसा का अध्ययन करेंगे। जड़वाद का तात्पर्य यह है कि सृष्टि की उत्पत्ति जड़तत्व से हुयी है। इसके अतिरिक्त बुद्धि एवं चेतना भी जड़त्व से उद्भूत हैं। इसके अतिरिक्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु नामक चतुर्भूतों से हुयी है। आकाश महाभूत नहीं है क्योकि वह अप्रत्यक्ष है। पुनः चेतना से विशिष्ट शरीर ही आत्मा है। ईश्वर की कोई सत्ता नहीं है। इन सब संकल्पनाओं का विशद् चिन्तन इस इकाई में किया गया है।

2.2 प्रस्तावना

चार्वाक दर्शन तत्वमीमांसीय दृष्टि से भौतिकवाद या जड़वाद का पोषक है। वस्तुतः जड़वाद वह तत्वमीमांसीय दृष्टिकोण है जिसमें सृष्टि का आधारभूत तत्व जड़ या मैटर (matter) को माना जाता है तथा उसी के माध्यम से सृष्टि के उद्भव एवं विकास को स्वीकार किया जाता है। यदि देखा जाए तो चार्वाक दर्शन की तत्वमीमांसा उसकी ज्ञानमीमांसा पर ही आधारित है। प्रत्यक्षवादी ज्ञानमीमांसा का तत्वमीमांसीय निष्कर्ष जड़त्व या भौतिकवाद ही हो सकता है।

वस्तुतः भौतिकवादी तत्वमीमांसा भारत में कोई सर्वथा नवीन अवधारणा नहीं है अपितु वेदो, उपनिषदों में भी इसकी एक क्षीण धारा अजस्र रुप में प्रवाहमान था। यहाँ ईश्वर को भी प्रकृति के विभिन्न रुपों में दर्शाया गया है। अग्नि, मरुत मेघ, आदि में ईश्वर के दर्शन किये गए एवं इनकी पूजा का विधान किया गया। डा0 राधाकृष्णन ने भी स्वीकार किया है कि ऋग्वेद की ऋचाओं में भौतिवादी तत्वमीमांसा के अंकुर पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में भौतिक वस्तुएं ही मनुष्य का लक्ष्य भी रखा गया है। उपासना का लक्ष्य भौतिक सुख–सुविधाओं की

प्राप्ति है। धन–सम्पत्ति, निरोगी एवं पुष्ट शरीर आदि की याचना याचक द्वारा की जाती रही है। इस प्रकार वैदिक काल में लौकिकता, भौतिकता एवं जड़ता का प्राधान्य रहा।

यहाँ एक अत्यन्त रोचक तथ्य है कि भारत में जहाँ प्राचीन काल से भौतिकवाद प्रचलित था तो वहीं भौतिकवाद की विरोधी विचारधारा 'प्रत्ययवाद' या अध्यात्मवाद भी साथ–साथ प्रचलित रहा। भौतिकवाद में जहाँ 'भौतक तत्व' को प्राथमिकता दी गयी वहीं प्रत्ययवाद में 'आत्मतत्व' केन्द्रीय रहा। इस रुप में आरुणि को भारतीय दर्शन का सर्वप्रथम भौतिवादी दार्शनिक मान सकते हैं। इसी के समकक्ष याज्ञवल्क्य को प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद का प्रधान पुरोधन माना जाता है। आरुणि ने 'भूत तत्व' को प्राथमिकता दी। आरुणि का विचार था कि ''विचार का श्रोत भूत तत्व है। जो भोजन हम करते हैं, जो अन्न हम उससे हमारा विचार प्रभावित होता है।'' इससे भौतिकवाद ही होता है।

औपनिषदिक दर्शन में यदि देखा जा, तो तैत्तिरीय उपनिषद् में सृष्टि के विकास की व्याख्या पंचकोशों द्वारा की गयी है जिसमें 'अन्नमय कोश' के अन्तर्गत जड़–जगत् को रखा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद में सृष्टि हेतु के रुप में कालवाद, यदृच्छावाद, स्वभाववाद तथा नियतितवाद का वर्णन किया गया है, जो भारतीय दर्शन में जड़वाद का प्रारम्भिक चिन्तन माना गया, जिनका क्रमिक वर्णन निम्नवत् है–

कालवाद– यह सिद्धान्त बताता है कि काल ही सृष्टि का मूल कारण है। किसी भी पदार्थ की सृष्टि काल के द्वारा ही होती है। काल के अभाव में किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। सामान्य जीवन में हम देखते हैं कि किसी भी कार्य के उत्पन्न होने का एक निश्चित समय होता है। जैसे बीजों के अंकुरित होने का एक निश्चित समय होता है, उससे पूर्व किसी भी प्रयास से उसमें अंकुरण नहीं कराया जा सकता। अतः पदार्थ की उत्पत्ति के लिए किसी चेतन कारण, बह्म या ईश्वर को स्वीकार नहीं किया जा सकता। काल ही सभी पदार्थो का एक मात्र कारण है।

स्वभावाद– प्रायः सभी भारतीय दर्शन यह मानतें है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति का कोई कारण अवश्य होता है। परन्तु स्वभाववाद 'कारणता–सिद्धान्त' के नकार का दर्शन है। कार्य की उत्पत्ति के लिए कोई कारण जिम्मेवार नहीं होता वरन् पदार्थ का आन्तरिक स्वभाव ही उसका कारण है। तत्व स्वाभाविक रुप से संगठित होकर सृष्टि की उत्पत्ति करतें हैं। प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति उसके स्वभाव से ही होती है।

नियतिवाद– नास्तिकतावादी दर्शन में यह स्वीकार किया गया है कि किसी पदार्थ की उत्पत्ति पहले से ही निर्धारित या नियत है। इसके लिए किसी स्रष्टा की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः इस सिद्धान्त का विरोध 'पूरुषार्थवाद' से है। यह सिद्धान्त मानता है कि सृष्टि के लिए किसी पुरुष की इच्छा या प्रयोजन के लिए कोई स्थान नहीं है।

यदृच्छावाद– यह सिद्धान्त स्वीकार करता है कि पदार्थ की उत्पत्ति बिना किसी कारण के अकस्मात् हो जाती है। इसके लिए किसी भी कारण की कोई आवश्यकता नहीं है। सृष्टि अकारण एवं आकस्मिक व्यवस्था है। पदार्थ स्वतः उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त चारों सिद्धान्त में भौतिकवाद प्रतिध्वनित हुआ है।

चार्वाक ज्ञानीमीमांसा के अनुसार केवल उसी वस्तु की सत्ता है जिसका हमें प्रत्यक्ष होता है। जड़ तत्व हमारे प्रत्यक्ष अनुभव से सम्ब) है। ईश्वर, आत्मा, परलोक, अदृष्ट इत्यादि की कोई सत्ता नहीं है क्योंकि हमें इनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। चार्वाक दर्शन की तत्वमीमांसीय वैचारिक संकल्पना को हम निम्न बिन्दुओं के रुप में स्पष्ट कर सकते हैं– 1. सृष्टि 2. आत्मविषयक मत 3. ईश्वर का निषेध

2.3 सृष्टि

चार्वाक दर्शन विशुद्ध जड़वादी दर्शन है तथा सृष्टि का आधार भूत तत्व जड़ को स्वीकार करता है। सृष्टि की उत्पत्ति चार महाभूतों– पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि से हुई होती है (पृथ्वियप्तेजोवायुरिति तत्वानि)। उल्लेखनीय है कि चार्वाक एवं सर्वास्तिवादी बौद्ध दर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शन सृष्टि की उत्पत्ति के लिए पंच महाभूतों– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश को स्वीकार करते हैं। परन्तु चार्वाक दर्शन चतुर्भूतों के रुप में पृथ्वी, जल, अग्नि, एवं वायु को स्वीकार करता है क्योंकि ये प्रत्यक्षगम्य है। चार्वाक दर्शन आकाश को नहीं मानता क्योंकि आकाश प्रत्यक्ष नहीं होता। सर्वास्तिवादी बौद्ध दर्शन भी चार महाभूतों पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के संघात को ही स्वीकार करता है। उनके अनुसार आकाश महाभूत नहीं है वरन् आकाश असंस्कृत धर्म है। परन्तु चार्वाक एवं सर्वास्तिवाद मे अंतर यह है कि जहाँ सर्वास्तिवाद अणु एवं संघात दोनों को स्वीकार करता है वहीं चार्वाक दर्शन महाभूतों के स्थूल रुप को ही स्वीकार करता है, क्योंकि इनका सूक्ष्म आणविक स्वरुप प्रत्यक्ष गम्य नहीं है।

इस दृष्टि से यदि देखा जा, तो सांख्य दर्शन से भी चार्वाक भिन्न मत रखते हैं। सांख्य दर्शन में प्रकृति के तमस् गुण से गन्ध तनमात्र, रसतन्मात्र, रुपतनूमात्र, स्पर्शन्मात्र, तथा शब्दतन्मात्र उत्पन्न होते है। तथा इन सूक्ष्म तन्मात्राओं से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश नामक महाभूत उत्पन्न होते हैं। परन्तु चार्वाक केवल चार महाभूतों को ही एवं सिर्फ उनके स्थूल रुप को ही स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार चार्वाक दर्शन ही मान्यता है कि इन चार महाभूतों से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। सृष्टि के उपादान कारण के रुप में पृथ्वी, जल, वायु एवं अग्नि चतुभूर्ज हैं। सृष्टि का कोई निमित्तकारण नहीं है। न्याय वैशेषिक दर्शन सृष्टि के उपादान कारण के रुप में ईश्वर को स्वीकार करता है परन्तु चावार्क दर्शन के अनुसार सृष्टि को कोई निमित्त कारण नहीं है।

उल्लेखनीय है कि चावार्क ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत कार्यकारणवाद का भी खण्डन करतें हैं। सृष्टि का कोई वाह्य कारण नहीं है। सृष्टि एवं सृष्टि वैचिय महाभूतों के स्वभाव के अनुसार ही उत्पन्न होते हैं। यह मत दर्शन में 'स्वभाववाद' कहलाता है।

चार्वाक के अनुसार इन चतुर्महाभूतों के विविध अनुपातों में सम्मिश्रण से जगत्, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि चेतना आदि की उत्पत्ति होती है। रुप, रस, गन्ध आदि गुणों की उत्पत्ति भी महाभूतों के संयोग से ही होती है। यहाँ पर एक तथ्य भारतीय दर्शन में विशिष्ट है कि चार्वाक दर्शन बुद्धि एवं चेतना को भी जड़ तत्व से उत्पन्न घोषित करता है। इस दृष्टि से चावार्क दर्शन भारतीय दर्शन का एकमात्र जड़वादी दर्शन है।

उल्लेखनीय है कि चार्वाक दर्शन जगत् की उत्पत्ति में ईश्वर जैसे किसी चेतन तत्व को स्वीकार नही करते। सभी ईश्वरवादी दर्शन सृष्टि की प्रक्रिया में कम से कम सृष्टि के निमित्तकारण के रुप में ईश्वर को कुम्भकार के रुप में मानते हैं। परन्तु चार्वाक दार्शनिकों का मत है कि घत–पटादि सांसारिक वस्तुओं की उत्पत्ति चतुर्भूतों के 'त्रसरेणु–रुप' कणों द्वारा होती है। न्याय–वैशेषिक दर्शन मानता है कि तीन द्रयणुकों के मेल से त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है। जबकि चार्वाक दर्शन इसके सूक्ष रुप को नही मानता।

चार्वाक दर्शन की चतुर्भूतों की मान्यता भी भारतीय दर्शन की परम्पारिक 'पंचमहाभूतों' की अवधारणा से मेल नही खाती। अन्य पारम्परिक भारतीय दर्शन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश के रुप में पंचमहाभूतों को स्वीकार करता है। जहाँ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि परमाणु–रुप हैं एवं आकाश इन परमाणुओं को प्रसार हेतु अवकाश प्रदान करता है। वहीं चार्वाक दर्शन पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चतुर्भूतों को स्वीकार करते हुए 'आकाश ' को नही स्वीकार करता है। इसके साथ ही वह चतुर्भूतों के स्थूल रुप को ही स्वीकार करता है, उसके सूक्ष्म रुप को नहीं।

2.4 आत्मविषयक मत

चावार्क दर्शन चेतना से युक्त शरीर को ही आत्मा स्वीकार करता है (चैतन्य विशिष्टः कायः पुरुषः)। शरीर से भिन्न किसी अभौतिक तत्व के रुप में आत्मा की कोई सत्ता नहीं है। चार्वाक के अनुसार जीवित भौतिक शरीर ही प्रत्यक्षगम्य है और वही आत्मा है। किसी चार्वाक के अनुसार चेतना से युक्त शरीर ही आत्मा है जिसका हमें प्रत्यक्ष होता है। चार्वाक का यह मत 'भूत चैतन्यवाद' कहलाता है।

इस प्रकार चार्वाक दर्शन शरीर और आत्मा के तादात्म्य को स्वीकार करता है तथा चेतना को शरीर का ही गुण मानता है। चार्वाक के अनुसार हमारा सामान्य अनुभव भी शरीर और आत्मा के तादात्मय को स्वीकार करता है। जब व्यक्ति कहता है कि मै मोटा हूँ, मै लंगडा हूँ, मै अंधा हूँ तो व्यक्ति 'मै और शरीर' का तादात्म्य स्वयं भी अनुभव करता है। यदि आत्मा को शरीर से भिन्न कोई अभौतिक तत्व मानें तो तो 'मै' का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं होगा तब 'मै मोटा हूँ' वाक्य निरर्थक हो जाएगा।

चावार्क दर्शन जड़ तत्व को प्राथमिक मानता है तथा चेतना को उसका उत्पाद मानता है। जड़ तत्व से शरीर इन्द्रिय एवं विषय सभी उत्पन्न होते हैं (तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषय संज्ञा) तथा इसके साथ ही चेतना भी भौतिक तत्वों से ही उत्पन्न होता है। यहा जड़ तत्वों में चेतना का अभाव होता है तथापि इनके विभिन्न अनुपातों में सम्मिश्रण से चेतना पैदा होती है। जिस प्रकार मदिरा के विभिन्न घटकों में किसी में भी मादकता नहीं है परन्तु जब उनका किण्वन कराया जाता है तो उसमें मादकता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार भूत तत्वों के विविध सम्मिश्रण से चेतना प्रादुर्भूत होती है। (किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्)

इसके अतिरिक्त चार्वाकों ने भौतिक तत्वों से चैतन्य की उत्पत्ति को समझाने हेतु एक अन्य दृष्टान्त दिया है। वे कहते हैं कि पान, कत्था, सुपारी, किसी भी लालिमा नहीं है परन्तु उन्हें मिलाकर चबाया जाता है तब उनमें लालिमा पैदा होती है। उसी प्रकार भौतिक तत्वों में चैतन्य का अभाव होने पर भी उनके

विशेष रुप में सम्मिश्रण चेतना उत्पन्न होती है। इस प्रकार भूत–भौतिक तत्वों से ही शरीर भी उत्पन्न होता है एवं चेतना भी उत्पन्न होती है। वस्तुतः चेतन शरीर ही आत्मा है एवं चेतना शरीर का गुण है।

पुनः यदि चेतन शरीर ही आत्मा है तो मृत्यु के बाद तथाकथित आत्मा, जो कि चेतन शरीर है, भी समाप्त हो जाता है। अतः आत्मा की अमरता की संकल्पना भी समाप्त हो जाता है। चार्वाक दर्शन यहाँ घोषित करता है कि मृत्यु ही मोक्ष है (मरणामेव अपवर्गः)। आत्मा का तादात्म्य चेतन शरीर से करने पर आत्मा से जुड़ी सभी प्राक्कल्पानाँ, समाप्त हो जाती है। इस प्रकार चार्वाक दर्शन में कर्म एवं पुनर्जन्म की अवधारणा का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता है। इसके अतिरिक्त पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक, आदि की संकल्पना भी चार्वाक दर्शन में निरर्थक सिद्ध होती है।

2.5 ईश्वर का निषेध

चार्वाक दर्शन में ईश्वर की सत्ता भी एक अनावश्यक संकल्पना है। चार्वाक ईश्वर को नहीं मानते। सभी ईश्वरवादी दर्शन सृष्टि के कर्ता, धर्ता, संहर्ता के रुप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं। ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन में अनेक तर्क दिए गए हैं। पाश्चात्य दर्शन में तो ईश्वर की संकल्पना में ही ईश्वर के वास्तविक अस्तित्व की बात स्वीकार करता है। भारतीय दर्शन में प्रायः विश्वकारणमूलक तर्क, जिसमें सृष्टि के कारण के रुप में ईश्वर की सत्ता स्वीकारी गई है। सृष्टि के प्रयोजनकर्ता के रुप में भी ईश्वर को स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त 'कर्मफल प्रदाता' के रुप में भी ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है। न्याय–वैशेषिक दर्शन ने अदृष्ट के सचालक के रुप में ईश्वर को माना है। इसके अतिरिक्त ईश्वर को धार्मिक एवं नैतिक मूल्यों के संरक्षक के रुप में स्वीकार किया गया है।

परन्तु चार्वाक दर्शन ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करता है। उसके अनुसार जड़तत्व सृष्टि के उपादान कारण हैं तथा वे अपने स्वभाव से ही संयुक्त होकर जगत को उत्पन्न करते हैं। इसके लिए किसी निमित्त कारण या ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से भी वह प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं। चार्वाक मत में धर्म मानसिक भ्रान्ति है। चार्वाक दर्शन का यह मत पाश्चात्य भौतिकवादी मार्क्स के दर्शन से मेल खाता है जिसमें उसने धर्म को मानव के लिए 'अफीम' बताया है।

इस प्रकार चार्वाक दर्शन में ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है। धर्म एवं कर्मकाण्ड केवल निरीह जनता को ठगने का साधन है जिसे बाह्म्णों ने अपने आजीविका के लिए आयोजित किया है। इस दृष्टि से देखें तो चार्वाक दर्शन भौतिक सृष्टि को स्वीकार है। ईश्वर, आत्मा, धर्म, परलोक, अमरता आदि को अनावश्यक मिथ्या घोषित करता है।

वैश्विक रहस्यों को सुझलाने, विश्व की संतोष जनक व्याख्या करने, मनुष्यों के कर्मफल प्रदाता के रुप में दर्शन में 'ईश्वर' का समप्रत्यय दार्शनिकों को अनिवार्य प्रतीत होता रहा है। धार्मिक व्यक्तियों के लिए तो ईश्वर की सत्ता स्वंय सिद्ध है। उनकी मान्यता है कि मानवीय बुद्धि सीमित होने के कारण अनन्त एवं असीम ईश्वर का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती।

भारतीय दर्शन को ईश्वर के अस्तित्व के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है– 1. ईश्वरवादी 2. अनीश्वरवादी। ईश्वरवादी दर्शन सृष्टिकर्ता,

प्रयोजनकर्ता, धर्त्ता, पूर्ण, शुभ दयालु के रुप में ईश्वर की सत्ता मानते हैं। इस दृष्टि न्याय–वैशेषिक योग एवं वैष्णव वेदान्त में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गयी है। इसके साथ ही सांख्य एवं मीमांसा जैसे आस्तिक दर्शन एवं जैन–बौद्ध जैसे नास्तिकों के साथ ही नास्तिक शिरोमणि चार्वाक दर्शन ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते है।

चार्वाक दर्शन एक भौतिकवादी दर्शन है तथा इस सृष्टि में प्रत्यक्ष जगत के अतिरिक्त वह सभी प्रकार की अतिप्राकृतिक सत्ताओं का वह खण्डन करता है। चार्वाक दर्शन 'राजा को ही सर्वशक्ति सम्पन्न मानकर उसे ईश्वर कहता है– लोकप्रसिद्धो राजा ईश्वरः (षड्दर्शन संग्रह)

2.6 तत्वमीमांसा की आलोचना एवं मूल्यांकन

चार्वाक दर्शन की जड़वादी तत्वमीमांसा भारतीय दर्शन में अत्यन्त आलोचना का विषय रही। इस विषय में सर्वप्रथम यह तो कहा जा सकता है कि मा़त्र जड़तत्व के उपादान से ही जगत की सृष्टि नही हो सकती। जिस प्रकार घड़े के निर्माण के लिए 'मृत्तिका' के उपादान के अतिरिक्त कुम्भकार के रुप में निमित्त कारण की भी आवश्यकता होती है उसी प्रकार सृष्टि भी निमित्त कारण के अभाव में असंभव है।

चार्वाक का भूतचैतन्यवाद, जिसमें जड़ से चेतना की उत्पत्ति को स्वीकार किया गया है, भी अनुचित दृष्टिकोण है। जड़तत्व जिसमें चेतना का अभाव है, जिसमें चेतना असत् है से चेतना की उत्पत्ति असंभव है। असत् से सत् की उत्पत्ति कथमपि एवं कदापि नही हो सकती। पाश्चात्य दर्शन में इसे Ex mihilo vihil fit कहा गया है। पुनः यदि चेतना को शरीर का गुण स्वीकार किया था तो उसका शरीर से कभी वियोग नहीं होना चाहिए। परन्तु निद्रा, मुर्च्छा आदि स्थितियाँ प्रायः चेतना शून्य ही होती है। पुनः यदि चेतना शरीर का गुण है तो शरीर की चेतना नहीं होनी चाहिए क्योंकि शरीर चेतना का अधिष्ठान या द्रव्य है तथा द्रव्य को गुण पर किसी भी रुप में आधृत नहीं होना चाहिए।

पुनः यदि चेतना शरीर का गुण है, दोनों में द्रव्य–गुण संबंध है, तो चैतन्य गुण का ज्ञान सभी को होना चाहि, परन्तु चैतन्य तो व्यक्तिगत होती है, सार्वजनिक नहीं। मेरे दाँत का दर्द मेरा व्यक्तिगत अनुभव है, अतः चैतन्य उस अर्थ में शरीर का गुण नहीं है। शरीर और आत्मा के तादात्मय के सम्बन्ध में 'मै मोटा हूँ' का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि आत्मा एवं शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इसके अतिरिक्त ईश्वर एवं धर्म आदि की आलोचना भी उचित नहीं है। ईश्वर एवं धर्म जनसामान्य को मानसिक संबल प्रदान करते हैं एवं नैतिक जीवन की ओर प्रेरित करते हैं। चार्वाकों द्वारा धर्म एवं ईश्वर की आलोचना धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक पतन के रुप में परिलक्षित होता है। वस्तुतः धर्म तो मनुष्य को उच्चतम आदर्शो की ओर अग्रसर करता है। तार्किक दृष्टि से ईश्वर धर्म, आत्मा की सिद्धि भले न हो सके परन्तु तर्क क्षरा इनकी असिद्धि भी संभव नहीं है।

जिस प्रकार चार्वाक दर्शन की ज्ञान मीमांसा अपूर्ण, अपर्याप्त एवं पूर्वाग्रह से ग्रस्त है, उसी प्राकर चार्वाक दर्शन की तत्वमीमांसा भी गंभीर चिंतन से रहित है।

2.7 सारांश– (तत्वमीमांसा)

- पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु ये चार महाभूत हैं। सृष्टि की उत्पत्ति इन्हीं चतुर्भूजों से हुई है।
- जड़तत्व सृष्टि के उपादानकारण है। ईश्वर जैसा कोई तत्व इसका निमित्त कारण नहीं है।
- चेतना की उत्पत्ति भी जड़तत्वों से हुई है। चैतन्य, जड़ का विकार है
- जीवित शरीर ही आत्मा है तथा चेतना शरीर का गुण है।
- ईश्वर एवं धर्म अनावश्यक प्राक्कल्पनाएँ हैं।

2.8 उपयोगी पुस्तकें

(1) Indian Philosphy vol I- (सर्वपल्ली राधाकृष्णन)

(2) भारतीय दर्शनः आलोचना एवं अनुशीलन (चन्द्रधर शर्मा)

(3) भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रुपरेखा (राममूर्ति पाठक)

(4) भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण (प्रो. संगम लाल पाण्डेय)

2.9 बोध प्रश्न

प्रश्न 1 – चार्वाक दर्शन की तत्वमीमांसा का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें।

____
____
____
____

प्रश्न 2 – चार्वाक दर्शन की तत्वमीमांसा उसकी ज्ञानमीमांसा की ही उपसिद्धि है। स्पष्ट कीजिए एवं समीक्षात्मक मूल्यांकन कीजिए?

____
____
____
____

****

इकाई–3

आचार मीमांसा

<u>इकाई की रूपरेखा</u>

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 इन्द्रियपरक सुखवाद

3.4 पुरूषार्थ विषयक अवधारणा

3.5 धर्म

3.6 धूर्त एवं सुशिक्षित चार्वाक

3.7 सारांश

3.8 संभावित प्रश्न

3.9 महत्व

3.10 संदर्भ ग्रन्थ

3.1 उद्देश्य

प्रत्यक्षवादी– जड़वादी वैचारिक संरचना की अनिवार्य परिणति चार्वाक दर्शन में स्थूल इन्द्रिय सुखवाद में हुई है। सुखों में कोई गुणात्मक अंतर नहीं है। भारतीय परम्परा के पुरुषार्थ की अवधारणा से चार्वाक दर्शन की पुरुषार्थ की अवधारणा किस तरह भिन्न है, छात्र इस ईकाई में इससे भी परिचित होंगे। इसके अतिरिक्त छात्र नास्तिकतावादी मूल्यों के संदर्भ में यह देखगें कि चार्वाक दर्शन धर्म, वेद, यज्ञ, पशुबलि, श्राद्ध आदि धार्मिक अवधारणाओं की व्याख्या किस प्रकार करता है।

3.2 नीतिमीमांसा

चार्वाक दर्शन की सुखवादी नीतिमीमांसा भी उसकी प्रत्यक्षवादी ज्ञानमीमांसा की ही उपसिद्धि है। रुप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पंचविध इन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं। इन्हीं प्रत्यक्षों में सुख और दुख का अनुभव भी शामिल है। भौतिकवादी चार्वाक दर्शन भौतिक वस्तुओं को केन्द्र में रखकर अपने स्थूल इन्द्रियपरक सुखवाद का ताना–बाना बुनता है। यह दर्शन मनुष्य के स्वरुप की एक पक्षीय व्याख्या करता है तथा भौतिक जगत् को केन्द्र में रखता है। मानव जीवन के चार पुरुषार्थो– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में मोक्ष वस्तुतः मृत्यु का ही दूसरा नाम है। धर्म मानसिक भ्रान्ति बनकर रह जाता है। काम एकमात्र पुरुषार्थ रह जाता ह। तथा अर्थ काम की सिद्धि का साधन मात्र बन जाता है। चार्वाक दर्शन के नैतिक विचारों का निम्न शीषकों से स्पष्ट किया जा सकता है–

3.3 इन्द्रिय परक सुखवाद

चार्वाक दर्शन की प्रत्यक्षवादी ज्ञानमीमांसा एवं भौतिकवादी तत्वमीमांसा की स्वभाविक परिणति स्थूल इनिद्रय सुखवाद में होती है। सुख प्राप्त करना मानव जीवन का परम लक्ष्य है तथा जो कर्म इसमें सहायक हों वे शुभ एवं जो कर्म इसमें बाधक हों। वे अशुभ है। इसके अतिरिक्त चार्वाक दर्शन 'मनौवैज्ञानिक सुखवाद' मे भी विश्वास करता है जिसके अनुसार मनुष्य सदैव सुख प्राप्त करना चाहता है। चार्वाक दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति को अस्वीकार करता है क्योंकि जब तक जीवन है तब तक दुःखों का पूर्ण विनाश नहीं हो सकता। जीवन में दुःख एवं सुख परस्पर मिले रहते हैं। जिस प्रकार एक सिक्के के दो पहलू होतें हैं। उसी प्रकार जीवन के सुख एवं दुख दो पक्ष है।

पुनः यदि सुख एवं दुःख परस्पर मिले रहते हैं तो दुःखों के डर से सुख–प्राप्ति के प्रयास का परित्याग करना मूर्खता है। काँटों के कारण मछली खाना नही छोड़ा जाता, माँगने वाले भिक्षुओं के डर से भोजन पकाना बंद नहीं किया जाता। क्या खेती को नष्ट करने वाले पशुओं के डर से खेती करना मनुष्य बन्द कर देता है? स्पष्टतः नहीं। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य को अपने सुख के लिए प्रयास करना चाहिए एवं उसे ही अपने जीवन का लक्ष्य मानना चाहिए।

भारतीय परम्परा में स्वर्ग एवं परलोक में सुख प्राप्त करने के लिए नैष्ठिक एवं त्यागी जीवन बिताने को प्राथमिकता दी जाती है। परन्तु चार्वाक के अनुसार हमें इहलोक में प्राप्त सुख को ही लक्ष्य मानना चाहिए। परलोक में प्राप्त होने वाले मिथ्या सुख की आशा में वर्तमान कालिक सुख परित्याग करना मूर्खता है। वे कहतें हैं कि कल मयूर मिलेगा इसलिए हाथ आ, कबूतर का परित्याग नहीं करना चाहिए (वरमद्य कपोतः न श्वो मयूरः)। इसलिए स्वर्गिक सुख की प्राप्ति के झूठे आश्वासन में वर्तमान जीवन के सुख का परित्याग करना मूर्खता है।

इस संबंध में चार्वाक का मुख्य उद्घोष है कि जब तक जीये सुख से जीएं, द्रव्य न हो तो ऋण लेकर घी पीयें, क्योंकि देह के नष्ट होने पर इसका पुनरागमन नहीं होता।

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

चार्वाक दर्शन सुखों में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं मानता। सुखों में केवल मात्रात्मक अन्तर होता है एक पशु के सुख में, एक दार्शनिक के सुख में, एक कवि के सुख में कोई अन्तर नहीं है। चार्वाक का यह सिद्धान्त आधुनिक सुखमूलक उपयोगितावादी दार्शनिक बेंथम के काफी निकट है। इसके अतिरिक्त चार्वाक का वर्तमानकालिक सुख को श्रेष्ठ मानना स्टिपस के सारिस्टिपस सम्प्रदाय से काफी मिलती है।

चार्वाक के अनुसार स्वर्ग एवं परलोक मिथ्या कल्पनाएँ हैं। स्वर्ग एवं नरक मन को बहलाने का साधन है। पाप–पुण्य की अवधारणा कोरी बकवास माना है।

3.4 पुरुषार्थ विषयक अवधारणा

भारतीय दर्शन मूल्यों का दर्शन है। इन मूल्यों को भारतीय दर्शन की भाषा में पुरुषार्थ कहतें हैं। ये चार प्रकार के हैं। 1– धर्म 2– अर्थ 3– काम 4– मोक्ष। धर्म नैष्ठिक एवं बह्मचर्यपूर्ण जीवन है। गीता में कहा गया है कि दर्शन में 'स्वकर्तव्यपालन' है। गीता में कहा गया है कि स्वकर्म ही स्वधर्म है। यहाँ ध्यान रखना है कि भारत में धर्म का तात्पर्य 'रिलीजन (Religion) के अर्थ में नहीं है। धर्म वस्तुतः मानव–मात्र के नैतिक कर्त्तव्यों का बोध कराते हैं जिसका पालन मनुष्य को अपने जीवन में करना होता है।

'अर्थ' का तात्पर्य भौतिक सम्पत्ति है जिसके माध्यम से इस जगत् में हम भौतिक कामनाओं की सिद्ध करते हैं। 'काम' का तात्पर्य हमारी इच्छाओं की पूर्ति है। 'अर्थ' वस्तुतः इसी काम की पूर्ति का साधन है। इस दृष्टि से 'काम रुपी साध्य की सिद्धि हेतु 'अर्थ' साधन के रुप में प्रयुक्त है।

'मोक्ष' भारतीय दर्शन में परम पुरुषार्थ है। यही जीवन का अंतिम साध्य है। धर्म , अर्थ, काम, आदि पुरुषार्थों की सम्यक् उपलब्धि के परिणाम स्वरुप हमें मोक्ष की प्राप्ति होती है जहाँ जीवन के समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है तथा यह अखण्डानन्द की अवस्था होती है।

वस्तुतः भारतीय दर्शन का मूल लक्ष्य दुःखों से परिपूर्ण है, उसके दुःखों को दूर करना। इसी रुप में भारतीय दर्शन केवल चिन्तन की प्रणाली न होकर जीवन प्रणाली है। मोक्ष ही भारतीय दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। मोक्ष जीवन–मरण चक्र से और परिणाम स्वरुप सभी प्रकार के सांसारिक दुःखों से युक्ति है।

भारतीय दर्शन में चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शनों (आस्तिक एवं नास्तिक) ने मोक्ष को परमपुरुषार्थ में स्वीकार किया है। यहाँ तक कि नास्तिकवादी दर्शन बौद्धों एवं जैनों ने भी इसे क्रमशः निर्वाण एवं कैवल्य के रुप में स्वीकार किया है।

सर्वप्रथम, गौतम बुद्ध ने निर्वाण को दुःखों के शांत होने के रुप में लिया है उनका कथन है कि ''यह संसार अनित्य है, सब कुछ निःसार है तथा केवल निर्वाण में ही शान्ति है।''

सर्वमनित्यं सर्वमनात्मं निर्वाणं शान्तम्

गौतम बुद्ध ने तृतीय अर्थ सत्य में 'दुःख–निरोध' या निर्वाण का विश्लेषण किया। अविद्या ही वस्तुतः 'दुःख–चक्र' की जननी है। पुनः उन्होनें तृतीय अर्थ सत्य में इसी आधार पर 'दुःख–निरोध' का भी विवेचन किया क्योंकि अविद्या, जो दुःखों का कारण है, के निरोध से दुःख चक्र का निरोध किया जा सकता है। दुःश निरोध ही निर्वाण हैं। 'निर्वाण' का तात्पर्य है– दुःखों का शान्त हो जाना। कुछ विद्वानों ने इसकी व्याख्या 'अखण्डानन्द' के रुप में भी की है।

जैन दर्शन में दुःखों का मूल कारण कर्म है। जीव का कर्म – पुद्गलों की ओर प्रवाह ही 'आस्रव' है जो बन्धन का मूल कार.ा है। कर्म–पुद्गलों के प्रवाह को रोक देना एवं पूर्व में उपस्थित कर्म–पुद्गलों को निवृत्त कर देने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः

पुनः जैन दर्शन में कर्म के सम्पूर्ण क्षय के उपरान्त जीवन अपने मूल स्वरुप का आविर्भाव प्राप्त करता है। जहाँ उसे 'अनन्त चतुष्ट्य' (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य एवं अनन्त आनन्द) की प्राप्ति होती है।

न्याय वैशेषिक दर्शन में दुःखों का मूल कारण अविद्या को माना गया है तथ बताया गया है कि मोक्ष का तत्त्व ज्ञान से होता है जहाँ दुःखों की सम्पूर्ण निवृत्ति होती है। यहाँ उल्लेखनीय है कि न्याय–वैशेषिक दर्शन मोक्ष की अवस्था में दुःख की निवृत्ति के साथ–साथ ज्ञान, सुखादि का भी अभाव मानते हैं। ये केवल मृत्यु के उपरान्त ही मोक्ष (विदेहयुक्ति) की अवस्था को स्वीकार करते हैं।

पूर्व मीमांसा के मोक्ष की अवधारणा भी दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति की अवस्था माना गया है। मोक्ष में दुःख की निवृत्ति के साथ–साथ ज्ञान, सुख, आनन्द का भी अभाव होता है। ये भी सिर्फ विदेह मुक्ति को मानते है। ज्ञान के साथ–साथ कर्म (धर्म) को मोक्ष का साधन मानते हैं।

सांख्या दर्शन में पुरुष द्वारा प्रकृति से अपने को भिन्न रुप मे विवके कर लेना ही मोक्ष माना गया है। पुरुष विशुद्ध चैतन्य स्वरुप है परन्तु प्रकृति से तादात्म्य के कारण वह नाना प्रकार के जन्म–मरण चक्र मे घूमता रहता है। जब वह प्रकृति से अपने को भिन्न जान लेता है तो कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह जीवन मुक्ति एवं विदेह मुक्ति दोनों को मानता है। मोक्ष में आनंद की अवस्था नहीं मानता।

अद्वैत वेदान्त आत्मा के स्वरुप ज्ञान को मोक्ष मानता है। यह ब्रह्म भाव की स्थिति है तथा विविध प्रकार के शरीर–सम्बन्ध से रहित की स्थिति है। यह अखण्ड आनन्द की अवस्था है। बह्मज्ञान इसका एक मात्र साधन है। यह जीवन मुक्ति एवं विदेह मुक्ति दोनों को स्वीकार करते हैं।

भारतीय संस्कृति एवं परम्परा में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें से मोक्ष में दुःख की आत्यन्तिक निविृत्त होती है एवं अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होती है। कतिपय दार्शनिक इस अवस्था को इस जीवन में प्राप्य बताते हैं तो कुछ दार्शनिक मोक्ष की उपलब्धि मृत्यु के उपरान्त बताते हैं। जैन दर्शन में इसे कैवल्य, बौद्ध दर्शन में इसे निर्वाण कहा गया है। कुछ दर्शन इसे अपवर्ग भी कहते हैं।

चार्वाक दर्शन मृत्यु को ही मोक्ष मानते हैं। परन्तु सामान्य अवस्था में कोई भी व्यक्ति मरना नहीं चाहता। अतः मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं हो सकता। पुनः चार्वाक कहते हैं कि यदि मोक्ष का अर्थ जीवन में दुःखों के निवृत्ति है तो यह असंभव है क्योंकि जीवन है तो सुख–दुःख भी हैं।

मोक्ष के निराकरण के उपरान्त चार्वाक काम को ही एकमात्र पुरुषार्थ घोषित करते हैं। (कामः एवैकः पुरुषार्थः)। काम का तात्पर्य, अपनी ऐन्द्रि इच्छाओं की अबाध आपूर्ति है। 'अर्थ' काम की पूर्ति के साधन स्वरुप है। इस प्रकार चार्वाक का विचार है कि मनुष्य को अर्थ एवं काम के ही प्रयास करना चाहिए। इनमें से काम ही वास्तविक अभीष्ट है। अर्थ की उपयोगिता काम की साधना है।

3.5 धर्म

भारत वर्ष प्राचीन काल से ही धर्मप्रधान देश रहा है। मानव समाज के प्रत्येक कार्यकलाप धर्म से अनुप्रमाा.ित रहा है। मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन भी धर्म से अनुशासित रहा है। मानव जीवन का प्रथम पुरुषार्थ धर्म ही है तथा धर्म से युक्त अर्थोपार्जन एवं धर्मानुकूल काम सेवन को ही यहाँ प्रश्रय प्राप्त रहा है। धर्म विरु) कार्य त्याज्य रहा है। किन्तु चार्वाक दर्शन धर्म को एक मानसिक भ्रान्ति मानता है। धर्म को 'रिलीजन' के रुप में चार्वाक कभी भी स्वीकार नहीं करता। धार्मिक संप्रत्ययों के रुप में ईश्वर, आत्मा, अमरता, कर्म, पुर्नजन्म को चार्वाक ने निराकृत किया है। धर्म को जनसामान्य में फैलाकर ब्राह्म्णों ने अपनी आजीविका का प्रबन्ध किया है।

चार्वाक दर्शन वेदों को प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं मानता। भारतीय दर्शन को वेद प्रामाण्य दृष्टि से आस्तिक एवं नास्तिक में विभक्त कियाय जाता है। जो वेद–प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, वे आस्तिक कहलाते हैं तथा जो वेद–प्रामाण्य को अस्वीकार करते हैं, वे नास्तिक कहलातें है। आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन के विभाजन का मूल आधार यही है। इस दृष्टि से सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक, मीमांसा–वेदान्त आदि आस्तिक दर्शन की श्रेणी में परिगणित हैं एवं चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन नास्तिक दर्शन के रुप में विख्यात चार्वाक दर्शन वेदों की घोर निन्दा करता है। वेदों को वे धूर्त पुरोहितों की कृति मानते हैं जिन्होंने जनसामान्य को धोखे में डालकर अपनी आजीविका का प्रबन्ध किया है। वेदों से जिन धार्मिक सम्प्रत्ययों ईश्वर, आत्मा, परलोक, अमरता, स्वर्ग, नरक आदि का विवरण प्राप्त होता है। वे प्रत्यक्षगम्य नहीं है। हमारे लिए एकमात्र जगत् इहलोक ही है।

चार्वाक दार्शनिक वैदिक यज्ञ, पशुबलि, कर्मकाण्ड श्राद्धादि की आलोचना करते हैं। श्राद्धादि की आलोचना करते हुए चार्वाक कहते है कि यदि श्राद्ध में अर्पित भोजन पितरों को तृप्त कर सकता है तो पथिक को अपने साथ भोजन लेकर यात्रा पर निकलने का क्या औचित्य है? परिवार वाले घर में ही उसके नाम से भोजन अर्पित कर देते और वह उस पथिक तक पहुँच जाता है। यदि श्राद्ध में अर्पित भोजन पितरों को तृप्त कर सकता है तो नीचे की कोठरी में अर्पित भोजन ऊपर वाले कमरे में क्यो नहीं पहुँच जाता?

पुनः चार्वाक दार्शनिक वैदिक कर्मकाण्ड एवं पशुबलि का भी वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। उनका तर्क है कि यदि यज्ञ में मारा गया पशु सीधे स्वर्ग पहुँच जाता है तो यज्ञकर्ता अपने माँ–बाप को ही बलि क्यों नही देते ताकि वे भी सीधे स्वर्ग जा सकें।

निश्चित रुप से चार्वाक के ये विचार आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक है। वस्तुतः चार्वाक दर्शन वैदिक दर्शन की प्रतिक्रिया से पैदा हुआ परन्तु कुछ संदर्भो में स्थूल चिन्तन ने इस दर्शन को निन्दा का पात्र बना दिया। मानवीय मूल्यों के अस्वीकरण के अन्ततः इस दर्शन को पतन का रास्ता दिखा दिया।

इस दृष्टि से देखें तो चार्वाक दर्शन के पतन का मूल कारण वेदों की निन्दा करना नहीं है। क्योंकि चार्वाक के पश्चात् बौद्धों एवं जैनों ने भी वेदों की शिक्षाओं की जी खोलकर निन्दा की है। फिर, ईश्वर का निराकरण भी इस मत के पतन का मूल कारण नहीं है क्योंकि जैन, बौद्ध, सांख्य, एवं मीमांसक स्पष्टतः ईश्वर को नहीं मानते परन्तु वे लोक प्रचलित हैं। आत्मा का अस्वीकरण भी चार्वाकों के पतन का मूल कारण नहीं है क्योंकि बौद्धों ने आत्मा के नित्य अस्तित्व का

निराकरण किया है। जड़ तत्व की सत्ता को स्वीकार करना भी इनके पतन के मूल कारण नहीं रहे क्योंकि वस्तुवादी दर्शन भी जड़ तत्व की सत्ता स्वीकार करते हैं। वस्तुतः चार्वाकों द्वारा नैतिक– मानवीय मूल्यों का निराकरण ही इस मत के पतन का मूल कारण रहा है।

3.6 धूर्त, वं सुशिक्षित चार्वाक

कालान्तर में चार्वाकों का एक परवर्ती सम्प्रदाय अस्तित्व में आया जिसने नैतिक एवं मानवीय मूल्यों पर बल दिया। परम्परानुसार इन चार्वाकों को 'सुशिक्षित चार्वाक' नाम दिया गया एवं आरम्भिक चार्वाकों को 'धूर्त चार्वाक' नाम दिया गया। वात्स्यायन को 'सुशिक्षित चार्वाक के रुप में परिभाषित किया जाता है। इन्होंनें 'कामसूत्र' में नैतिक एवं मानवीय मूल्यों पर बल दिया है। काम एवं अर्थ के साधन साथ धर्म को भी मानवीय पुरुषार्थो में स्थान दिया है एवं कहा गया है कि धर्म, अर्थ एवं काम तीनों का सेवन करना चाहिए (परस्परानुपघातकं त्रिवर्ग सेवेत्)। पुनः सुखवाद के संदर्भ में भी शिक्षित चार्वाकों ने धूर्त चार्वाकों के स्थूल इन्द्रिय सुखवाद के स्थान पर 'परिष्कृित सुखवाद' (Refined Hedonism) को स्वीकार किया है तथा मानव–सुखों में मात्रात्मक के साथ–साथ गुणात्मक भेद भी स्वीकार किया है।

3.7 महत्व

चार्वाक दर्शन भारतीय दर्शन में अत्यन्त उपहास के प्रसंग के रुप में रहा है। इसकी ज्ञानमीमांसा को अपर्याप्त, तत्वमीमांसा को हेय एवं नीतिमीमांसा को पतित कहने की प्रवृत्ति भारतीय दर्शन में रही है। परन्तु आज इस विचार पर समग्रता से विचार करने की आवश्यकता है एवं अपने निष्कर्षो पर एक नवीन दृष्टि डालने की जरुरत है।

चार्वाक दर्शन की ज्ञानमीमांसा में प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानकर अन्य प्रमाणों के प्रति संशय किया गया। इस प्रकार भारतीय दर्शन के प्रारम्भिक चरण में ही संशयवाद की स्थापना कर भारतीय दर्शन को वैचारिक स्वतंत्रता एवं एक समीक्षात्मक दृष्टिकोण से युक्त किया। इससे भारतीय दर्शन रुढ़िवाद एवं अन्धविश्वास से मुक्त रहा। जिस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट का दर्शन ह्यूम के संशयवाद का ऋणी है उसी प्रकार सम्पूर्ण भारतीय दर्शन चार्वाक – ज्ञानमीमांसा का ऋणी है।

पुनः भौतिकवादी दृष्टि एवं इहलोक व दृष्टि को भी आज के आधुनिक वैज्ञानिक युग में है या नही मान सकते। धर्म के परलोकोन्मुखी दृष्टिकोण की आलोचना करना मानववादी दृष्टिकोण की आलोचना मानववादी दृष्टि का परिचायक है।

चार्वाक का सुखवाद भी सामान्य दृष्टि के निकट है। परवर्ती चार्वाकों ने इसमें संशोधन कर इसे और अधिक संतोषप्रद बनाया। चार्वाक कहतें हैं कि जब तक जियो सुख से जियो, ऋण लेकर घृत का सेवन करना चाहिए। हमें ध्यान रखना चाहिए कि वे ऋण लेकर किसी गलत कार्य को करने के लिए नहीं कहते वरन् घी खाने के लिए कहते हैं क्योकि घी स्वास्थ्य के लिए हितकर होता है। यदि मनुष्य स्वस्थ रहेगा तभी वह अपने जीवन में पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए प्रयास करेगा। फिर ऋण लेना अनैतिक नहीं है, ऋण न अदा करना अनैतिक है। चार्वाक

यह नहीं कहते कि ऋण अदा न करो। इस प्रकार चार्वाक दर्शन मनुष्य ही के केन्द्र में है, ईश्वर या परलोक जैसी अन्य कोई सत्ता नहीं है। इस दृष्टि से चार्वाक दर्शन भारतीय मानववाद व प्रथम संस्करण है।

3.8 सारांश

- स्थूल इन्द्रिय सुखवाद
- 'कामः एवैकः पुरुर्षाथः। काम एकमात्र पुरुषार्थ है एवं अर्थ, काम की पूर्ति का साधन है।
- मृत्यु ही मोक्ष है (मरणमेव अपवर्गः)
- धर्म एवं वेद पाखण्डियों की आजीविका के साधनमात्र हैं जिनका दुरुपयोग उन्होंने निरीह जनता के शोषण हेतु किया।
- यज्ञ एवं श्राद्ध व्यर्थ हैं।

3.9 उपयोगी पुस्तकें

1. Indian Philosphy vol I- (सर्वपल्ली राधाकृष्णन)
2. भारतीय दर्शनः आलोचना एवं अनुशीलन (चन्द्रधर शर्मा)
3. भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रुपरेखा (राममूर्ति पाठक)
4. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण (प्रो. संगम लाल पाण्डेय)

3.10 बोध प्रश्न

प्रश्न–1 चार्वाक नीतिशास्त्र की आलोचना व्याख्या करें। अन्य दर्शनों से तुलना एवं मूल्यांकन करें।

____
____
____
____

****

MAPH-101
भारतीय दर्शन का परिचय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 3

भारतीय दर्शनशास्त्र–जैनदर्शन

इकाई – 1 75–84

अनेकान्तवाद एवं द्रव्य सिद्धान्त

इकाई – 2 85–94

जैन दर्शन का स्याद्वाद या सप्तभंगीयनय

इकाई – 3 95–104

जैन आचारमीमांसाः बन्धन और मोक्ष

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.—101(MAPH-101)

सरं क्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह — कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

डॉ.आर.पी.एस. यादव	—	निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.)	—	दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो.दीप नारायण यादव	—	दर्शनशास्त्र विभाग, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. द्वारिका	—	विभागाध्यक्ष, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. सभाजीत यादव	—	दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

लेखक

प्रो. सुरेन्द्र वर्मा	—	सेवानिवृत्त, 10 एचआईजी / 1 सर्कुलर रोड, प्रयागराज।
डॉ. श्यामकान्त	—	असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला0 वि.वि. प्रयागराज।
डॉ. अतुल कुमार मिश्र	—	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

सम्पादक

प्रो. जटाशंकर	—	पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

परिमापक

प्रो. आर.पी.एस. यादव	—	निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

समन्वयक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र	—	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

2023 (मुद्रित)
© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि अण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन — उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 211021
प्रकाशक — कुलसचिव, विनय कुमार, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज –2023
मुद्रक — के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी, मथुरा – 281003.

भारतीय दर्शनशास्त्र

खण्ड–3

जैन दर्शन

खण्ड परिचय

महावीर स्वामी जैन दर्शन की परम्परा के सूत्रधार हैं। महावीर स्वामी जैन दर्शन के प्रर्वतक नहीं है; अपितु इस दर्शन की परम्परा में आने वाले चौबीसवें तीर्थकंर हैं। इस दर्शन के तीर्थंकरों में प्रथम नाम ऋषभदेव (आदिनाथ) का प्राप्त होता है। और तेईसवां नाम पार्श्वनाथ का प्राप्त होता है। जैन दर्शन का जो स्वरुप आज मिलता है, उसे व्यवस्थित रुप से प्रस्तुत करने का श्रेय महावीय स्वामी को ही है। जैन दर्शन वेद के प्रामाण्य का विरोध करता है, इसलिए नास्तिक दर्शन के रुप में जाना जाता है। यह दर्शन ईश्वर की सत्ता में अविश्वास करता है। अहिंसा को जैन दर्शन जीवन में सर्वोपरि महत्ता प्रदान करता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से जैन दर्शन में 'जैन' शब्द 'जिन' शब्द से निष्पन्न होता है। 'जिन' शब्द संस्कृत भाषा के 'जि' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है जीतना। इस व्युत्तिमूलक अर्थ के अनुसार 'जिन' अपनी इन्द्रियों, वासनाओं एवं समस्त मनोविकारों पर विजय प्राप्त कर लेता है। अतएव जैन दर्शन में जिनों द्वारा दिये गये उपदेशों, शिक्षाओं और सिद्धान्तों को ही जैन दर्शन के रुप में मान्यता दी गयी है। यही कारण है कि 'जिन' के अनुयायी ही 'जैन' कहे जाते हैं। जैन मत के अनुयायी अपने धर्म के प्रचारकों को तीर्थकर (मोक्ष मार्ग का संस्थापक) कहते हैं। जैन मत में तीर्थंकर ईश्वर नही है, अपितु मनुष्य ही हैं, किन्तु उन्हें दैवी सत्ता के रुप में मान्यता दी जाती है और इन्हें ईश्वर समतुल्य माना जाता है। इसीलिए जैन मतावलम्बी तीर्थंकरों की पूजा अर्चना करते हैं। तीर्थंकर मोक्ष मार्ग के संस्थापक हैं, क्योंकि तीर्थंकर 'जिन' 'वीतराग' और निर्ग्रन्थ हैं। जैन दर्शन में दो सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है– श्वेताम्बर और दिगम्बर। महावीय स्वामी की मृत्यु के बाद उनके दो शिष्यों भद्रबाहु एवं स्थूलबाहु के मध्य सिद्धान्तों को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया था; जिसके कारण भद्रबाहु के अनुयायी दिगम्बर कहलाये और स्थूलबाहु के अनुयायी श्वेताम्बर कहलाये। दिगम्बर आचरण पालन में अधिक कठोर थे; किन्तु श्वेताम्बर उदार थे। दिगम्बर मुनिजन निर्वस्त्र रहते थे और दिशाओं को ही अपना वस्त्र मानते थे; जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय मुनि श्वेत वस्त्र धारण करते थे और उनके अपने आगम ग्रन्थ थे। दिगम्बर सम्प्रदाय के मुनि यह मानते थे कि आगम ग्रन्थ नष्ट हो चुकें हैं; इसलिए 'केवली' ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत है।

जैन दर्शन के प्रस्तुत खण्ड में तीन इकाईयाँ हैं। जिनमें इकाई–1 में जैन दर्शन के अनेकान्तवाद एवं द्रव्य सिद्धान्त का विवेचन किया गया है। इस इकाई में अनेकान्तवाद को स्पष्ट करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि जैन दर्शन की तत्वमीमांसा अनेकान्तवादी है। इसके अतिरिक्त जैन दर्शन के द्रव्य सिद्धान्त को परिभाषित किया गया है और यह दिखाया गया है कि जैन दर्शन में द्रव्य में दो प्रकार के धर्म पाये जाते हैं– स्वरुप या नित्य धर्म तथा आगन्तुक या परिवर्तनशील धर्म। जैन दर्शन के द्रव्य सिद्धान्त के अन्तर्गत जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, पुद्‌गल, आकाश, काल आदि का विवेचन किया गया है।

इकाई–2 में जैन दर्शन के स्यादवाद या सप्तभंगीनय का विवेचन किया गया है। इसमें यह दिखाया गया है कि जैन दर्शन का स्यादवाद ज्ञानमीमांसा का सापेक्षवादी सिद्धान्त है। जैन दर्शन में 'नय' किसी वस्तु के विषय में आंशिक ज्ञान है। 'नय' जैन दर्शन में एक दृष्टिकोण है; जिसके द्वारा यह व्यक्त किया जाता है कि किसी भी वस्तु के विषय में हमारा जो ज्ञान होता है कि किसी भी वस्तु के विषय में हमारा जो ज्ञान होता है, वह एक दृष्टि से सत्य है; किन्तु अन्य दृष्टि से असत्य होता है। जैन दर्शन में इस दृष्टिकोण विशेष को स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक परामर्श के पूर्व 'स्यात' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्यात' शब्द का परामर्श के पूर्व प्रयोग करके जैन दर्शन यह स्पष्ट करना चाहता है कि कोई भी परामर्श दृष्टिकोण परिस्थिति, देश और काल के सन्दर्भ में ही सत्य या असत्य हो सकता है। परामर्श के पूर्व 'स्यात' शब्द के प्रयोग के द्वारा जैन दार्शनिक सात परामर्शों की रचना करते हैं; जिसे ही 'सप्तभंगीनय' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

इकाई– 3 जैन दर्शन के अचारमीमांसा से सम्बन्धित है(जिसमें जैन दर्शन के बन्धन एवं मोक्ष का वर्णन किया गया है। इस इकाई मे यह बताया गया है कि जैन दर्शन में 'जीवन' का कर्म पुद्गलों से संयोग ही 'बन्धन' है। जैन दर्शन में बन्धन के पांच कारण बताये गये हैं। जैन दर्शन में बन्धन दो प्रकार के बताये गयें हैं। भाव बन्धन और द्रव्य बन्धन। जैन दर्शन में जीव का कर्म पुद्गलों से असम्पृक्त हो जाना ही 'मोक्ष' है। जैन दर्शन में 'मोक्ष' केवल दुःख की आत्यान्तिक निवृत्ति ही नही है; अपितु जीव के स्वाभाविक पूर्णता की अनुभूति है; जिसमें जीव अनन्त चतुष्ट्य का बोध करता है। जैन दर्शन में 'मोक्ष' की प्राप्ति के लिए त्रिरत्न के मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक माना गया है।

****

इकाई–1

अनेकान्तवाद एवं द्रव्य सिद्धान्त

<u>इकाई की रुपरेखा</u>

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 अनेकान्तवाद की परिभाषा

1.3 जैन दर्शन का द्रव्य सिद्धान्त

1.4 जैन दर्शन में जीव की अवधारणा

1.4.1 जैन दर्शन द्वारा चावार्क के आत्मा सम्बन्धी मत का खण्डन

1.4.2 जैन दर्शन द्वारा आत्मा के अस्तित्व के लिए प्रमाण

1.5 जैन दर्शन में जीव का भेद–बध्द एवं मुक्त जीव

1.6 जीव सिद्धान्त समीक्षा

1.7 अजीव द्रव्य

1.8 पुद्गल

1.9 आकाश

1.10 धर्म

1.11 अधर्म

1.12 काल

1.13 निष्कर्ष

1.14 सारांश

1.15 बोध प्रश्न

1.16 उपयोगी पुस्तकें

1.0 उद्देश्य

जैन दर्शन की तत्वमीमांसा अनेकांतवाद का पोषण करती है। इसके अन्तर्गत यह स्पष्ट किया जाता है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। जैन दर्शन 'धर्म' का अर्थ गुण बताया गया है।

- जैन दर्शन में 'धर्मी' को 'द्रव्य' माना गया है। जैन दर्शन में द्रव्य सत् है।

- द्रव्य के भेद करते हुए द्रव्य को दो प्रकार का बताया गया है– अस्तिकाय एवं अनास्तिकाय।
- अस्तिकाय द्रव्य के भी दो भेद बताये गये हैं – जीव और अजीव।
- अजीव के अन्तर्गत पुद्गल, आकाश, धर्म और अधर्म का विवेचन किया गया है।
- जैन दर्शन में अनेकान्तवाद एवं द्रव्य सिद्धान्त का निहितार्थ बहुलवादी एवं सापेक्षवादी तत्वमीमांसा का प्रतिपादन करना है।

1.1 प्रस्तावना

जैन दर्शन में बौद्धों के इस विचारधारा का 'कोई चिरस्थायी एवं अपरिवर्तनशील द्रव्य नही है' तथा उपनिषदों की इस धारणा का 'गुणों की अपनी कोई सत्ता नही है' को एक विशेष दृष्टिकोण को अपनाते हुए आंशिक रुप में सत्य माना गया है। जैन दर्शन में बौद्ध दर्शन एवं उपनिषद् दर्शन से भिन्न तत्वमीमांसा के एक भिन्न दृष्टिकोण की स्थापना की गयी हैद्ध जिसे अनेकान्तवाद की संज्ञा से अभिहित किया गया है। जैन दर्शन का सभी दृष्टिकोणों में आस्था रखते हुए उसे तथ्य की विशेष अभिव्यक्ति मानना ही अनेकान्तवाद है। जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का तात्पर्य है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है अर्थात वस्तु में अनेक धर्म होते हैं। वस्तु में अनेक धर्म गुण या लक्षण हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में धर्म का अर्थ है। जैन दर्शन में द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि– 'गुणपयार्यवाद् द्रव्यम्' अर्थात ''द्रव्य वह है जिसमें गुण और पयार्य पाये जाते हैं।''

1.2 अनेकान्तवाद की परिभाषा

जैन दर्शन की तत्वमीमांसा में अनेकान्तवाद का प्रतिपादन किया गया है। जैन दर्शन में अनेकान्तवाद को परिभाषित करते हुए यह दिखाया गया है कि जगत् अनन्य अन्योन्याश्रित वस्तुओं का समूह है और वस्तुओं के इस अनन्त समूह में प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणों से युक्त है। जैन दर्शन में कहा गया है कि 'अनन्त धर्मात्मकं वस्तु' अर्थात वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। इसलिए जैन दर्शन का यह मानना है कि वस्तु के अनन्त धर्मो का निर्वचन सामान्य मनुष्य द्वारा न तो किया जा सकता है औ न ही सामान्य मनुष्य द्वारा इसे पूर्णतया जाना जा सकता है। सामान्य मनुष्य के सभी ज्ञान आंशिक एवं अपूर्ण होते हैं। जैन दर्शन का यह मानना है कि वस्तुओं के सभी गुणों का ज्ञान 'केवली' या 'सर्वज्ञ' को ही हो सकता है। जैन दर्शन अपने अनेकान्तवाद के निरुपण द्वारा एक–अनेक, नित्य–अनित्य, सान्त–अनन्त, सद्–असद् आदि धर्मों का समन्वय करता है। इसीलिए जैन तत्वमीमांसा वास्तववादी एवं सापेक्षवादी बहुत्ववाद है।

1.3 जैन दर्शन का द्रव्य सिद्धान्त

जैन दर्शन में द्रव्य को गुण और पयार्य से युक्त माना गया है और द्रव्य की परिभाषा की गयी है कि 'गुण पयार्यवद् द्रव्यं'। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य वह है जो सब वस्तुओं के अन्दर रहने वाला सारतत्व है, जो अपने को विविध आकृतियों में प्रकट करता है। द्रव्य की तीन विशेषताएं हैं–उत्पत्ति,

विनाश और नित्यता। इसीलिए जैन दर्शन में द्रव्य को सत् माना गया है। द्रव्य की उत्पत्ति एवं विनाश होता है तथा उसमें स्थायित्व भी रहता है। द्रव्य में कुछ नये गुण उत्पन्न होते है, कुछ पुराने गुण नष्ट होते है और कुछ स्थायी रुप में रहते हैं। द्रव्य का कुछ स्वाभाविक गुण हैं, जिसे नित्य गुण या स्वरुप गुण कहा जाता है, यह द्रव्य में सदैव बना रहता है। जैन दर्शन का यह मानना है कि द्रव्य के नित्य के गुण के रुप में द्रव्य की उत्पत्ति होती है और न ही विनाश होता है। इस दृष्टि से द्रव्य केवल सत् है परन्तु पर्यायों की दृष्टि से द्रव्य उत्पन्न होता है, उसका विनाश होता है अतएव द्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्य के रूप में वह नित्य और पर्यायों के रुप में वह अनित्य है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि द्रव्य एक गतिशील यथार्थता है। परिवर्तित होने के बावजूद स्थिर रहना द्रव्य की विशेषता है। इसके अतिरिक्त पर्याय के बिना द्रव्य का और द्रव्य के बिना पयार्य का अस्तित्व नही रह सकता। जिस प्रकार उपादान आकार के बिना और आकार उपादान के बिना नहीं रह सकता (उसी प्रकार द्रव्य पर्याय के बिना और पर्याय द्रव्य के बिना नही रह सकते।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य में दो प्रकार के धर्म पाये जाते हैं– स्वरुप अथवा नित्य धर्म तथा आगन्तुक अथवा परिवर्तन'ील धर्म जैन दार्शनिक स्वरुप धर्म को गुण एवं आगन्तुक धर्म को पर्याय कहते हैं। इसलिए द्रव्य को परिभाषित करते हुए यह कहा गया है कि 'उत्पत्ति व्ययध्रौव्यलक्षणं सत्' अर्थात द्रव्य के उत्पत्ति व्यय एवं ध्रौव्य, ये तीन लक्षण माने गये हैं। द्रव्य के इन तीन लक्षणों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि गुण की दृष्टि से द्रव्यों में एकता सामान्यतत्व एवं नित्यता की सिद्धि होती है और पर्यायों की दृष्टि से अनेकता, विशेषत्व एवं अनित्यता की सिद्धि होती है। वास्तविकता यह है कि जैन दर्शन में द्रव्य एक गतिशील यथार्थता है। यह नित्यता को भी स्वीकार करता है और परिवर्तन (अनित्यता) को भी स्वीकार करता है।

जैन दर्शन में द्रव्य के दो भेद माने गये है– आस्तिकाय एवं अनस्तिकाय। अस्तिकाय उन द्रव्यों को कहा जाता है; जिनका अस्तित्व शरीर के समान किसी स्थान या आकाश में होता है। काल को छोड़कर अन्य सभी द्रव्य आस्तिकाय हैं। आस्तिकाय के विरुद्ध लक्षण वाले द्रव्य अनास्तिकाय कहलाते हैं। काल ही एकमात्र अनास्तिकाय द्रव्य है। अस्तिकाय द्रव्य के भी 'जीव' एवं 'अजीव' दो भेद किये गये हैं जिन द्रव्यों में चेतना होती है तथा जो ज्ञाता रुप में हैं, वे 'जीव' कहलाते हैं। अजीव अचेतन (चेतनारहित) तथा ज्ञेय रुप द्रव्य है।

1.4 जैन दर्शन में जीव की अवधारणा

जैन दर्शन मे जिसे 'जीव' की संज्ञा से अभिहित किया गया है, वह आत्मतत्व का द्योतक है। डॉ0 राधाकृष्णन के अनुसार जैन दर्शन में 'जीव' शब्द का प्रयोग कई अर्थो में होता है और यह जीवन प्राण शक्ति, आत्मा एवं चेतना आदि होता है इस प्रकार जैन दर्शन का 'जीव' चेतन है। जीव में चेतना सर्वदा विद्यमान रहती है। चेतना जीव का स्वभाव ही है। चेतना के ही कारण जीव को प्रकाश युक्त कहा गया है। जैन दर्शन का जीव स्वतंत्र है, इसलिए उसे ही अपने कर्मो का फल भी भोगना पड़ता है। जीव चेतन है, इसलिए वह ज्ञाता भी है, किन्तु वह स्वंय ज्ञान का विषय नही होता है। जैन दर्शन का जीव नित्य है। जैन दर्शन का जीव अनन्त है। जीव अर्मूत होते हुए भी मूर्त रुप है, क्योंकि जैन दर्शन में जीवों को साकार माना गया है। किन्तु उनका आकार भिन्न अवस्थाओं में भिन्न–भिन्न होता है। जैन दर्शन में 'जीव' की तुलना प्रकाश से की गयी है और यह कहा गया है

कि जिस प्रकार प्रकाश का कोई आकार नही होता है फिर भी प्रकाश जिस कमरे में रहता है, उसके आकार के अनुसार प्रकाश का भी आकार हो जाता है। इसी प्रकार जीव भी जिस शरीर में रहता है, उस शरीर के अनुसार आकार ग्रहण कर लेता है। शरीर के आकार में अन्तर होने के कारण जीव के आकार में अन्तर पाया जाता है; जैसे हाथी में रहने वाला 'जीव' बड़ा होता है और चींटी में रहने वाला जीव छोटा होता है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव के विस्तार एवं जड़ द्रव्य के विस्तार में भेद है। जीव का विस्तार शरीर के सम्पूर्ण भाग में रहता है अर्थात सम्पूर्ण भाग में उसका अनुभव होता है, जबकि जड़ पदार्थ निश्चित स्थान घेरता है। जीव एवं जड़ पदार्थ के भेद को स्पष्ट करते यह भी कहा गया है कि "जिस स्थान पर जब तक कोई जड़ द्रव्य है तब तक वहाँ कोई दूसरा जड़ द्रव्य प्रवेश नही कर सकता, किन्तु जिस स्थान पर कोई एक जीव (आत्मा) है, वहाँ दूसरा जीव भी प्रविष्ट हो सकता है। जैन दार्शनिक कहते हैं कि जिस प्रकार एक ही स्थान को दो दीपक आलोकित कर सकते हैं उसी प्रकार दो जीव भी एक ही स्थान पर वर्तमान रह सकते है।

जैन दर्शन सम्पूर्ण संसार के जीवों को इन्द्रियों की संख्या के आधार पर वर्गीकृत किया गया है। पाँच इन्द्रिय (स्पर्श, स्वाद, गन्ध, चाक्षुष और श्रवण) वाले जीव सबसे श्रेष्ठ जीव हैं और एक इन्द्रिय वाले जीव निम्न स्तर के जीव हैं मनुष्य एवं देवता में पंचेन्द्रिय के अतिरिक्त एक छठी इन्द्रिय भी होती है(जिसे 'मन' कहते हैं, इसलिए मनुष्य एवं देवता को विवेक से युक्त माना जाता है।

जैन दर्शन में सर्वजीवात्मवाद का समर्थन किया गया है। जैन दर्शन का यह मानना है कि केवल मनुष्य और जन्तुओं में ही नही वरन् सौर मंडल के पदार्थो से लेकर एक ओस कण तक में जीवात्मा है। भिन्न–भिन्न पदार्थो में तात्विक जीव आत्माओं का निवास है यथा पार्थिव जीवात्मा, आग्नेय जीवात्मा इत्यादि। ये तात्विक जीवात्मा, उत्पन्न होती है और मरती है और फिर होती हैं। जैन दार्शनिक यह भी कहते हैं कि जैन कल्पना का एक विशिष्ट स्वरुप है कि जैन दार्शनिक अपने सिद्धान्त के अनुसार अंगरहित पदार्थो में अथवा धातुओं एवं पत्थरो तक में आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जैन दर्शन का जीव आत्मतत्व का द्योतक है। जैन दर्शन में जीव को एक द्रव्य माना गया है। जीव शुद्ध ज्ञान एवं चैतन्य स्वरुप है। जीव का यह चैतन्य रुप चेतना का परिणाम है; जिसे उपयोग भी कहा जाता है। जीव का उपयोग केवल ज्ञान रुप में होता है। जीव एक, प्रभु एवं राग, द्वेष तथा जड़त्व का आधार है। जीव सभी प्रकार से पूर्ण होने के कारण अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख एवं अनन्त वीर्य से युक्त है। जीव में अन्तनिर्हित इस स्वाभाविक धर्म को 'अनन्त चतुष्ट्य' कहा जाता है। अनंत चतुष्टय की अभिव्यक्ति केवल मुक्त जीवों में होती है, बन्धनग्रस्त जीवों में नही।

जैन दर्शन में जीव कर्त्ता एवं भोक्ता होने के कारण संसार चक्र में आकार बारम्बार कर्मार्जित शरीर को धारण करता है। जन्म एवं मरण जीव स्वरुप के गुण नही है; वरन मनुष्यादि विशेष योनियों के गुण हैं। जीव की किसी भी काल में न तो उत्पत्ति होती है और न ही नाश होता है। इस दृष्टि से जैन दर्शन का जीव सिद्धान्त 'सद्भाववाद' के नाम से विख्यात है।

जैन दर्शन की जीव परिमाण सम्बन्धी अवधारण भारतीय दर्शन में एक अद्वितीय स्थान रखती है। जैन दर्शन में जीव को परिणामी एवं अवयवी माना गया है, जिसके कारण जिस किसी भी शरीर में कर्म के अनुसार जीव का प्रवेश होता है, उसी प्रकार के समस्त प्रदेशों में व्याप्त होकर वह उसी के परिणाम का होता है। जीवात्मा जिस शरीर को धारण करता है उसी आकार का हो जाता है। जीव में कुचंन (सिकुड़ना) एवं प्रसारण (फैलना) होता है। यदि शरीर के साथ–साथ जीव परिणाम का ह्रास या वृद्धि न हो; तो शरीर में जीव के चेतना के उपस्थिति की समुचित व्याख्या नही संभव होगी। यही कारण है कि जैन दर्शन का जीव सिद्धान्त 'मध्यम–परिणामवाद' के नाम से विख्यात है।

जैन दर्शन में जीवात्मा को कर्त्ता एवं भोक्ता माना गया है, अतएव यह बहुजीववाद का समर्थन कतरता है। यदि जीव को अनन्त एवं अपरिमित न माना जाए तो संसार किसी भी समय समस्त जीवों से मुक्त हो जाने पर जीव रहित हो जाएगा। अतएव संसार के जीवों से शून्य होने से संसार के नष्ट हो जाने का जो प्रसंग उपस्थित होता है उससे बचने के लिए जैन दर्शन जीव का अनन्त एवं असंख्य माना है। जैन दर्शन में जीव अस्तिकाय है। अस्तिकाय का अर्थ है, जीव लोकाकाश के अनन्त एवं असंख्य प्रदेशों में व्याप्त है।

1.4.1 जैन दर्शन द्वारा चावार्क के आत्मा सम्बन्धी मत का खण्डन

चार्वाक दर्शन में शरीर को ही आत्मा (जीव) कहा गया है। चार्वाक दर्शन में शरीर और आत्मा में कोई अन्तर नही होता है। चार्वाक दर्शन में चेतना को शरीर का गुण कहा गया है। जैन दर्शन चार्वाक के आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त का खण्डन निम्न रुपों में करता है।

1. चार्वाक कहते हैं कि चेतना शरीर का गुण है, किन्तु यदि चेतना शरीर का गुण है, तो इस गुण को शरीर में रहना चाहि, किन्तु देखा जाता है कि मृत्यु के पश्चात् शरीर तो रहता है किन्तु उसमें चेतना का अभाव पाया जाता है। अतएव चार्वाक मत युक्तिसंगत नही है।

2. चार्वाक चेतना को चार महाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु) के संयोग से उत्पन्न माना है; किन्तु चेतना को शरीर जड़ पदार्थो से उत्पन्न होते कभी नही देखा गया है। ऐसी स्थिति में चेतना को शरीर का गुण कैसे माना जा सकता है। अर्थात यह सिद्ध नहीं होता कि चेतना शरीर का गुण है। इस प्रकार प्रत्यक्ष या अनुमान किसी भी प्रमाण से यह सिद्ध नही होता कि शरीर के साथ चैतन्य का नित्य साह्चर्य है।

3. जैन दर्शन का यह मानना है कि यदि चेतना शरीर का गुण होता तो चेतना को शरीर पर निर्भर रहना पड़ता। ऐसी स्थिति में शरीर में होने वाले परिवर्तन का प्रभाव चेतना पर भी पड़ता जैसे मोटे व्यक्ति में चेतना अधिक होती और दुबले व्यक्ति में कम, किन्तु ऐसा नही होता। अतएव चेतना शरीर का गुण नही है।

4. चार्वाक 'मै मोटा हूँ' मै दुबला हूँ, इत्यादि के द्वारा यह सिद्ध करना चाहते हैं कि शरीर ही आत्मा है, किन्तु इस आधार पर चेतना को शरीर का गुण मान लेते हैं। जैन दर्शन के अनुसार चेतना शरीर का गुण नही है। कभी–कभी चेतना को शरीर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध का होना है।

5. चार्वाक इस आधार पर चेतना को शरीर का गुण मानते है कि प्रायः सामान्य बोलचाल में लोग यह कहते हैं कि यह मेरा शरीर है, अर्थात शरीर ए वं चेतना में एकत्व पाया जाता है। परन्तु यह उचित नहीं है।

6. चार्वाक प्रायः यह भी तर्क देते हैं कि शरीर से पृथक आत्मा का कोई अस्तित्व नही है। जैन दर्शन चार्वाक के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि चार्वाक का यह मत उसी प्रकार दुर्बोध्य है, जिस प्रकार यह कहना कि मेरी माता बन्ध्या है।

1.4.2 जैन दर्शन द्वारा आत्मा के अस्तित्व के लिए प्रमाण

जैन दर्शन आत्मा सम्बन्धी चार्वाक मत का खण्डन करने के बाद आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिए निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं–

1. जैन दर्शन के अनुसार जीव चेतन क्रियाओं का आधार है। जीव (आत्मा) के कारण ही मनुष्य को चेतना, सुख, दुःख, स्मृति, संदेह आदि की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। इस अनुभूति के आधार पर कहा जा सकता है कि आत्मा का अस्तित्व है। जैनियों के अनुसार यह आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण है।

2. जैन दर्शन का यह मानना है कि शरीर एक प्रकार की मशीन है। जिस प्रकार एक मशीन को चलाने के लिए चालक की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार शरीर रुपी मशीन को चलाने के लिए एक चालक की आवश्यकता है। यह चालक कोई अन्य नही आत्मा ही है। आत्मा के ही इच्छा एवं संकल्प से शरीर परिचालित होता है।

3. जैन दर्शन का यह मानना है कि इन्द्रियों के माध्यम से जो विभिन्न विषयों का ज्ञान होता है, वह आत्मा के कारण ही संभव है। अतएव आत्मा अस्तित्व है।

4. जैन दर्शन निमित्त कारण के रुप में भी आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। जैन दर्शन का यह मानना है कि प्रत्येक शरीर के निर्माण के लिए पुद्गल कण की आवश्यकता है किन्तु ये पुद्गण कण अपने आप में पर्याप्त नही है, इनको आकार देने के लिए निमित्त कारण की आवश्यकता होती है और यह निमित्त कारण कोई और नही; बल्कि जीव ही है। अतएव शरीर के निर्माण के निमित्त कारण के रुप में जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है।

1.5 जैन दर्शन में जीव का भेद– बध्द एवं मुक्त जीव

जैन दर्शन में जीव दो प्रकार का माना गया है– बध्द एवं मुक्त। मुक्त जीव वे हैं जो संसार चक्र से छुटकारा पा चुके है और बध्द जीव वे हैं जो संसार चक्र में आकर बारम्बार कर्माजित शरीर को धारण करते हैं। जैन दर्शन पुनः बध्द जीवों के दो भेद करते हैं– स्थावर एवं त्रस। त्रस जीव जंगम या गतिमान हैं और स्थावर जीव गतिरहित हैं। स्थावर जीव के रुप में पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं वनस्पति को जैना दार्शनिक स्वीकार करते हैं। स्थावर जीवां में केवल स्पर्शेन्द्रिय त्रस जीवों में एक से अधिक इन्द्रिय होती है। त्रस जीवों में क्रमशः दो, तीन, चार

एवं पाँच इन्द्रियँ होती हैं। इन्हीं इन्द्रियों के आधार पर त्रस जीव चार प्रकार के माने गये हैं–

1. दो इन्द्रिय वाले त्रस जीवों में सीपी, घोघा आदि हैं; जिन्हें केवल स्पर्शेन्द्रिय एवं रसेन्द्रिय होती है।
2. तीन इन्द्रिय वाले त्रस जीवों में पीपीलिका मुख्य हैं (जिनमें स्पर्शेन्द्रिय रसेन्द्रिय एवं घ्राणेन्द्रिय होती है।
3. चार इन्द्रिय वाले त्रस जीवों में मच्छर, मक्खी आदि हैं (इनमें स्पर्शेन्द्रिय रसेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय एवं चक्षुरिन्द्रिय होती है।
4. पाँच इन्द्रिय वाले त्रस जीवों में पशु, पक्षी एवं मनुष्य की गणना होती है। चार इन्द्रिय वाले त्रस जीवों में पायी जाने वाली स्पर्शेन्द्रिय रसेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त इनके पास कर्णेन्दिय होती है।

1.6 जीव सिद्धान्त समीक्षा

परन्तु जैन दर्शन के जीव सिद्धान्त के विवेचना मे देहपरिणामवाद, आत्मा के अनन्त प्रदेशों की कल्पना तथा उसके अन्तर्ग संकोच एवं प्रसारण आदि विविध धर्मो के प्रतिपादन से आत्मा के अनित्यता का प्रसंग उपस्थित होता है। तथा उसके साथ–साथ कृत–प्रणाश एवं अकृताभ्युपगम् आदि दोषों की उपलब्धि होती है। जो कर्म सिद्धान्त के प्रतिकूल है। जैन दर्शन जीव की व्याख्या में व्यावहारिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए अनन्त जीवों की कल्पना की है। जीव एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी जीव रुप में परस्पर अभिन्न है। अतएव जैन दर्शन में एक ऐसे तत्व की उपेक्षा की गयी है, जो सभी जीवों में एकता को स्थापित कर सके। जैन दर्शन इस बात को स्वीकार नही करता है। निरपेक्ष सत् की सत्ता को स्वीकार किये बिना जीवों के न तो अनेकता की व्याख्या संभव है और न ही नित्यता की व्याख्या संभव है।

1.7 अजीव द्रव्य

जैन दर्शन दूसरा आस्तिकाय द्रव्य 'अजीव' है। अजीव अचेतन एवं जड़ है। अजीव तत्व के पाँच भेद माने गये हैं– पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल। इनमें प्रथम चार में अनेक प्रदेश हैं; जिसके कारण आकाश के विभिन्न्न प्रदेशों में व्याप्त रहते हैं तथा अस्तिकाय कहलाते है। केवल काल ही अनास्तिकाय द्रव्य है; जिसमें केवल एक ही प्रदेश होता है।

1.8 पुदगल

जैन दर्शन में जड़ तत्व का नाम पुद्‌गल है। पुद्‌गल वह द्रव्य है; जिसमें संयोग एवं विभाग हो सके। पुद्‌गल की सूक्ष्मतम एवं अन्तिम अवस्था 'अणु' कहलाती है। अणु अविभाज्य होने के कारण निरवयव कहलाते हैं। अणु की निरपेक्ष एवं नित्य सत्ता है तथा यह स्वंय अमूर्त है। अणु रुप पुद्र्‌गलों के संधात् से अन्य सभी स्थूल द्रव्यों का निर्माण होता है। इस प्रकार जैन दर्शन में पुद्‌गल के दो भेद होते हैं– अणु एवं संघात या स्कन्ध रुप। अणु पुद्‌गलों से ही स्कन्ध या संघात रुप पुद्‌गलों का निर्माण होता है। संघात या स्कन्ध पुद्‌गलों में रुप, रस, गन्ध एवं स्पर्श ये चार गुण होते हैं और उनका स्वभाव अमूर्त न होकर एक स्कन्ध है और

दृश्यमान जगत स्कन्धों का समूह है। शब्द, प्रकाश, ताप, छाया, संयोग, भेद, संस्थान ये सभी पुद्गलों का परिणाम है। जैन दर्शन में शब्द को अन्य भारतीय दर्शनों की भांति आकाश का गुण न मानकर पुद्गलों का परिणाम मात्र माना गया है। जैन दर्शन में अणु पुद्गल कारण रुप हैं और स्कन्ध पुद्गल कार्यरुप हैं। जैन दर्शन कर्म को भी पारिमाण्विक मानता है और अणुओं में केवल गुणात्मक भेद मानता है।

1.9 आकाश

जैन दर्शन में आकाश वह अस्तिकाय द्रव्य है; जिनमें अन्य सभी आस्तिकाय द्रव्य व्याप्त हैं। जीव, पृद्गल, धर्म एवं अधर्म आकाश में ही स्थित हैं। आकाश अनन्त है और उसका ज्ञान अनुमान से होता है। जैन दर्शन आस्तिकाय द्रव्यों के विस्तार हेतु आकाश का अनुमान करता है। जैन दर्शन में आकाश के दो भेद माने गये हैं– लोकाकाश और अलोकाश। जो आकाश जीव पुद्गलादि द्रव्यों को स्थान देता है, वह 'लोकाकाश' कहलाता है। लोकाकाश में प्रवेश होते हैं। अलोकाकाश लोकाकाश से परे है और इसमें अनन्त प्रदेशों की कल्पना की गयी है।

1.10 धर्म

जैन दर्शन में धर्म शब्द का अर्थ इसके प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में हुआ है। जैन दर्शन में धर्म उस द्रव्य को कहते है; जो न तो स्वतः क्रियाशील होता है और न किसी अन्य द्रव्य के क्रियात्मक होने में प्रेरक होता है; वरन् वह जीव पुद्गलादि क्रियात्मक तत्वों की क्रिया में सहायक होता है। धर्म का अस्तित्व केवल अनुमान से सिद्ध होती है। धर्म नामक सत्तव समस्त लोकाकाश में व्याप्त है। इसमें रुप, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्द इन गुणों का पूर्ण अभाव है। तथा यह पूर्णरुपेण अमूर्त है।

1.11 अधर्म

धर्म के समान अधर्म की सत्ता अनुमान पर आधारित है। अधर्म जीव, पुद्गलादि के विश्राम अथवा अवस्थिति के निमित्त में सहायक है। यह द्रव्यों को स्थिर रखने में सहायक है। इस प्रकार धर्म एवं अधर्म परस्पर विरोधी है। धर्म के समान अधर्म का भी स्वभाव अमूर्त है। तथा वह लोकाकाश के समस्त प्रदेशों में व्याप्त रहता है। यह स्वतः गतिहीन है।

1.12 काल

जैन दर्शन में काल एक अनास्तिकाय द्रव्य है। यह एक अखण्ड एवं निरवयव द्रव्य है। काल की सत्ता अनुमान द्वारा सिद्ध होती है। काल द्रव्यों के न केवल परिणाम, अपितु वर्तना, क्रिया, नवीनत्व आदि का कारण है। काल वस्तु परिणामं में सहायक मात्र होता है। सम्पूर्ण विश्व में एक ही काल व्याप्त है यह एक निरवयव द्रव्य है। काल के दो भेद बताये गये हैं– पारमार्थिक काल और व्यावहारिक काल। पारमार्थिक स्वभावतया नित्य और निराकार है। पारमार्थिक काल ही भिन्न–भिन्न उपाधियों से सीमित होकर दिन, मास आदि समय रुप में उपलब्ध

होता है। व्यावहारिक काल को जैन दर्शन में 'समय' भी कहा जाता है। समय के क्षण, मुहूर्त, प्रहर, दिन–रात्रि आदि अनेक भेद है। व्यावहारिक काल का आदि और अन्त है तथा सभी प्रकार के परिणाम व्यावहारिक काल में ही घटित होते है।

1.13 निष्कर्ष

अतएव यह स्पष्ट होता है कि जैन तत्वमीमांसा अनेकान्तवादी है और जैन दार्शनिक अपने तत्वमीमांसा निरुपण को एक समन्वयात्मक सिद्धान्त के रुप में प्रस्तुत करने का दावा करते हैं। परन्तु जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का तार्किक निष्कर्ष अद्वैतवाद है; क्योंकि बिना अद्वैत तत्व में विश्वास किये सापेक्षवाद को स्वीकार करना असंभव है। इसके अतिरिक्त जैन दर्शन में जीव एवं अजीव विवेचना भेद दृष्टि पर आधारित है; जिसे तात्विक दृष्टि तर्कसंगत नही माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक चेतन तत्व कैसे सपरिणाम है? इस प्रश्न का समुचित निराकरण करने में जैन दार्शनिक असफल रहें हैं। वास्तविकता यह है कि जैन दर्शन की तत्वमीमांसा लोकमत के अधिक निकट है। उन्होंने अपने तत्वमीमांसीय व्याख्या को अनेकान्तवाद की परिधि से बाहर जाकर समझने एवं तार्किक दृष्टि से उसके निहितार्थो को परीक्षा करने का प्रयास नहीं किया।

1.14 सारांश

जैन दर्शन की तत्वमीमांसा अनेकान्तवादी है। जैन दर्शन के अनेकान्तवाद से तात्पर्य है– वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। जैन दर्शन में 'धर्म' को 'गुण' और 'धर्मी' को 'द्रव्य' कहा गया है। इसीलिए द्रव्य की परिभाषा की गयी है– 'गुण पयार्यवद् द्रव्यम' अर्थात द्रव्य वह है, जिसमें गुण एवं पयार्य पाये जाते हैं। जैन दर्शन में द्रव्य का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि– 'उत्पत्तिव्ययध्रौव्यलक्षणं सत्' अर्थात द्रव्य वह है जो उत्पत्ति, विनाश एवं स्थायित्व के लक्षणों से युक्त हो। इसीलिए जैन दर्शन में द्रव्य में दो प्रकार के गुण माने जाते हैं– स्वरुप अथवा नित्य धर्म तथा आगन्तुक अथवा परिवर्तनशील धर्मः। जैन दर्शन में द्रव्य के दो भेद माने गये हैं– अस्तिकाय एवं अनास्तिकाय। अस्तिकाय उन द्रव्यों को कहा जाता है, जिनका अस्तित्व शरीर के समान किसी स्थान या आकाश में होता है। 'काल' को छोड़कर अन्य सभी द्रव्य अस्तिकाय है। अस्तिकाय द्रव्य का जीव एवं अजीव में भेद किया गया है। जीव के भी भेद किये गये हैं। जीव को सर्वप्रथम बध्द एवं मुक्त जीव में विभक्त किया गया है। बद्ध जीवों के भी दो भेद किये गये हैं– स्थावर एवं त्रस। स्थावर जीव गतिरहित है और त्रस जीव गतिशील हैं। त्रस जीव चार प्रकार के बताये गये हैं और त्रस जीवों का वर्गीकरण इन्द्रियों के आधार पर किया गया है। अजीव द्रव्य के अन्तर्गत जड़ तत्व पुद्गल, आकाश, धर्म एवं अधर्म का विवेचन किया गया है। जैन दर्शन में धर्म शब्द का अर्थ इसके प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में हुआ है। जैन दर्शन में धर्म जीव, पुद्गलादि क्रियात्मक तत्वों की क्रिया में सहायक होता है। अधर्म जीव पुद्गलादि स्थिर रखने में सहायक होता है। जैन दर्शन में काल एक मात्र अनास्तिकाय द्रव्य है। काल की सत्ता अनुमान द्वारा सिद्ध होती है।

1.15 बोध प्रश्न

1. जैन दर्शन के अनेकान्तवाद सिद्धान्त का विवेचन कीजिए।

____
____
____
____

2. जैन दर्शन के जीव सिद्धान्त का विवेचन कीजि,।

____
____
____
____

3. जैन दर्शन चार्वाक मत का खण्डन किस प्रकार किया है? तथा जीव के अस्तित्व के लिए जो प्रमाण दिये हैं उसका विवेचन कीजिए।

____
____
____
____

1.16 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन– डॉ0 नन्द कि'ाोर देवराज
2. भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन–चन्द्रधर शर्मा
3. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण–प्रो0 संगम लाल पाण्डेय

****

इकाई—2

जैन दर्शन का स्याद्वाद या सप्तभंगीयनय

इकाई की रुपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 जैन दर्शन का स्याद्वाद या सप्तभंगीयनय

2.3 स्याति अस्ति च

- **2.3.1** स्याति नास्ति च
- **2.3.2** स्याति अस्ति च नास्ति च
- **2.3.3** स्यात् अवक्तव्यम्
- **2.3.4** स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम्
- **2.3.5** स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम्
- **2.3.6** स्यात् अस्ति च, नास्ति च, अवक्तव्यम् च

2.4 जैन दर्शन के अनेकान्तवाद एवं सप्तभंगीनय का समन्वयवादी दृष्टिकोण

2.5 जैन दर्शन के स्याद्वाद की समीक्षा

2.6 निष्कर्ष

2.7 सारांश

2.8 बोध प्रश्न

2.9 उपयोगी पुस्तकें

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में जैन दर्शन का स्यादवाद् या सप्तभंगीयनय के विवेचन के द्वारा उसके ज्ञानमीमांसीय सापेक्षतावाद सिद्धान्त को प्रोद्घाटित किया गया है। जैन दर्शन के तत्वमीमांसा का अनेकान्तवाद ज्ञान मीमांसीय सापेक्षतावाद के में प्रतिफलित होता है। इस सिद्धान्त में जैन दर्शन यह स्थापना करता है कि किसी वस्तु के विषय में कोई कथन अंशतः सत्य हो सकता है। जैन दर्शन में किसी वस्तु के विषय में इस आंशिक ज्ञान को 'नय' कहते हैं और इस आंशिक ज्ञान के आधार पर वस्तु के विषय में जो परामर्श होता है। उसे भी 'नय' कहते है।

जैन दर्शन में नय परामर्श का वह रुप है, जिसमें किसी वस्तु के विषय में साधारण रीति से कोई कथन किया जाता है, जैसे 'यह घट है' यह 'नय' है।

'नय' जैन दर्शन में एक दृष्टिकोण है, जिसमें यह व्यक्त होता है, कोई भी ज्ञान एक दृष्टि से सत्य है और अन्य दृष्टि से असत्य है। जैन दर्शन में इस दृष्टिकोण विशेष को स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक परामर्श के पूर्व 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

जैन दर्शन में 'स्यात' शब्द का किसी परामर्श के पूर्व प्रयोग करने का तात्पर्य यह है कि कोई भी परामर्श दृष्टिकोण परिस्थिति देश और काल के सन्दर्भ में ही सत्य है, यद्यपि वह अन्य दृष्टिकोण परिस्थिति देश और काल के संदर्भ में असत्य हो सकता है।

2.1 प्रस्तावना

जैन दर्शन की तत्वमीमांसा अनेकान्तवाद का पोषण करती है। यह अनेकान्तवाद ज्ञानमीमांसा में 'स्यादवाद्' के रुप में प्रतिफलित होता है। जैन दर्शन में सत्ता की दृष्टि से जिसे अनेकान्तवाद कहा जाता है, वही ज्ञान दृष्टि से 'स्यादवाद्' कहलाता है। वास्तविकता यह है कि जैन दर्शन की तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा दोनों ही उसके सापेक्षतावाद सिद्धान्त पर आधारित है। जैन दर्शन अपने सापेक्षता सिद्धान्त के द्वारा यह दिखाते है कि सामान्य मनुष्य के लिए भी वस्तु के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना संभव नही है। सामान्य मनुष्य किसी भी वस्तु के विषय में जो ज्ञान प्राप्त करता है, वह वस्तु के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान न होकर उस वस्तु का आंशिक ज्ञान होता है। जैन दर्शन का मानना है कि वस्तु के एक अंश के विषय में जो ज्ञान होता है, उसे ही सम्पूर्ण ज्ञान मान लेना ,कान्तिक दृष्टिकोण है, जो असत्य एवं भ्रामक है। जैन दर्शन का यह स्पष्ट अभिमत है कि सामान्य मनुष्य के लिए सारी वस्तुओं को जानना या एक वस्तु के ही सारे धर्मों को जानना असंभव है। हम कुछ वस्तुओं को और उनके कुछ धर्मों को ही जान सकते है। जैन दर्शन के अनुसार एक वस्तु के सारे धर्मो को जान लेना 'सर्वज्ञ' होना है। जैन दर्शन का यह मानना है कि जो एक वस्तु के सभी धर्मो को जानता है वह सम्पूर्ण वस्तुओं के सभी धर्मों को जानता है। इसलिए वस्तु जगत का हमारा सम्पूर्ण ज्ञान एकांगी, आंशिक, अपूर्ण, सीमित तथा सापेक्ष होता है तथा हमारे समस्त प्रकथन परामर्श और न्यायवाक्य भी एकांगी सापेक्ष और सीमित होते हैं। जैन दर्शन में इस ज्ञानमीमांसीय और तर्कशास्त्रीय सिद्धान्त का नाम स्याद्वाद है। जैन दर्शन अपने स्याद्वादी ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त में यह स्थापना करता है कि वस्तुओं के अन्दर इतनी जटिलता पायी जाती है कि अनेक विषय में निश्चित रुप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः यह यर्थाथ सत्ता के अत्यधिक जटिल स्वरुप एवं अनिश्चितता के ऊपर बल देता है। यह निरुपण की संभावना का निषेध नहीं करता है, किन्तु यह निरपेक्ष या विशिष्ट निरुपण को स्वीकार नहीं करता। जैन दर्शन का यह स्पष्ट अभिमत है कि यर्थाथ सत्ता का गतिशील स्वरुप केवल सापेक्ष एवं सोपाधिक निरुपण के साथ ही मेल खा सकता है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक परामर्श केवल कुछ विशेष अवस्थाओं में अर्थात परिकल्पित रुप में ही सत्य है। जैन दर्शन के इसी विचारधारा को सत्ता की दृष्टि से अनेकान्तवाद एवं ज्ञान की दृष्टि से स्याद्वाद कहा जाता है।

2.2 जैन दर्शन का स्याद्वाद या सप्तभंगीनय

जैन दर्शन का स्याद्वाद ज्ञानमीमांसा का सापेक्षवादी सिद्धान्त है। जैन तत्वमीमांसा में वस्तु को अनर्न्तधर्मात्मिक होने के कारण उसका स्वरुप अत्यन्त

जटिल है। इसलिए किसी वस्तु के विषय में कोई कथन अंशतः ही सत्य हो सकता है। जैन दर्शन में वस्तु के विषय में आंशिक ज्ञान को 'नय' कहते हैं और इस आंशिक ज्ञान के आधार पर वस्तु के विषय में जो परामर्श होता है, उसे भी 'नय' कहते हैं। जैन दर्शन में 'नय' परामर्श का वह रुप है; जिसमें किसी वस्तु के विषय में साधारण रीति से कोई कथन किया जाता है। जैसे 'यह घट है'। यह 'नय' है। 'नय' जैन दर्शन में एक दृष्टिकोण है; जिससे यह व्यक्त होता है कि कोई भी ज्ञान एक दृष्टि से सत्य है। और अन्य दृष्टि से असत्य है। जैन दर्शन में इस दृष्टिकोण विशेष को स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक परामर्श के पूर्व 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैन दर्शन के अनेक आलोचकों ने 'स्यात्–शब्द' का अनेक अर्थ बताया है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि 'स्यात' शब्द से तत्व के अज्ञेयता की गन्ध आती है परन्तु परामर्श के पूर्व प्रयोग करने का तात्पर्य यह है कि कोई भी परामर्श दृष्टिकोण परिस्थिति, देश और काल के सन्दर्भ में ही सत्य है, यद्यपि वह अन्य दृष्टिकोण परिस्थिति देश और काल के सन्दर्भ में असत्य हो सकता है। जैन दार्शनिक अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए 'अन्धे और हाथी' की कहानी से स्पष्ट करते हुए यह दिखाते हैं कि प्रत्येक अन्धा हाथी के जिस अंग को स्पर्श करता है, हाथी का उसी रुप में वर्णन करता है जबकि हाथी उनमें से किसी के वर्णन के अनुरुप नही है। विभिन्न अन्धों के हाथी के स्वरुप विवेचन के मध्य विवाद का कारण उनका हाथी के विषय मे आंशिक ज्ञान है। दार्शनिक सिद्धान्तों के बीच विवादों का भी प्रमुख कारण दृष्टिकोण विशेष ही होता है। प्रत्येक ज्ञान में सत्यता होती है; किन्तु वह किसी दृष्टिकोण विशेष से होती है।

जैन दर्शन का स्यादवाद व्यवहार–सत्य है; क्योंकि यह केवल व्यवहार सत्य के जानने में उपस्थित होने वाले विरोधों का समन्वय करता है। यह किसी पदार्थ का क्रमिक ज्ञान है। किसी भी वस्तु के विषय में मनुष्य का ज्ञान सीमित है; क्योंकि किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में अनेक दृष्टिकोण हो सकते है; किन्तु जैन दर्शन सम्बन्धी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में केवल सात 'सप्तभंगीनय' के नाम से जाना जाता है। जैन दर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु के विषय में स्यात्पूर्वक सात परामर्श किये जा सकते हैं–

2.3 स्याति अस्ति च

स्यात् अस्ति च द्वारा किसी भी पदार्थ के विषय में विध्यात्मक कथन किया जाता है; जैसे 'स्यात्' घटः अस्ति च' से तात्पर्य है कि घड़ा वर्तमान रुप परिस्थिति, देश एवं काल में भाव रुप में विद्यमान है। इस 'नय' विशेष में वस्तु का केवल बाह्य रुप ही विचारणीय है।

2.3.1 स्याति नास्ति च

'स्यात नास्ति च' द्वारा किसी भी पदार्थ के विषय में निषेधात्मक कथन किया जाता है(जैस 'स्यात–घटः नास्ति च' के द्वारा यह स्पष्ट किया जाता है कि द्रव्य, नाम, स्थापना (देश) एवं काल विशेष में सापक्षतया घड़ा नहीं है। अतएव इस नय में अन्य वस्तु विषयक देश काल परिस्थिति एवं द्रव्य की दृष्टि से घट का अभाव माना जाता है।

2.3.2 स्याति अस्ति च नास्ति च

'स्यात अस्ति च नास्ति च' इस नय का तात्पर्य है कि सापेक्षतया घड़ा है भी और नहीं भी है। इसमें स्वरुप द्रव्य, स्थान, कला की दृष्टि से घड़े का विधान किया जाता है और पर–रुप–द्रव्य–स्थान की दृष्टि से घड़े के अस्तित्व का निषेध किया जाता है। आस्तित्व में अभाव विषयक इन दोनों परामर्शो का भिन्न– भिन्न दृष्टि एक ही वस्तु में होना असंभव है।

2.3.3 स्यात् अवक्तव्यम्

स्यात् अवक्तव्यम् का तात्पर्य है कि सापेक्षतया वस्तु अवक्तव्य है; क्योंकि एक ही समय में वस्तु की सत्ता एवं अभाव दोनों का निर्देश होने के कारण भाषा की सीमा के कारण हम इन दोनों का विधान एक साथ नहीं कर सकते। वाणी द्वारा निर्वचन क्रमशः एवं आनन्तर्य से ही हो सकता है; युगपत नही; जैसे 'स्यात–घटः' अवक्तव्यम् च' से तात्पर्य है कि घड़े के स्वरुप उपस्थिति एवं पर रुप अनुपस्थिति के युगपत् निर्वचन की अशक्यता।

2.3.4 स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम्

स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् का तात्पर्य है कि कोई भी वस्तु स्व–नाम–स्थापना– द्रव्य भाव से विद्यमान होने पर भी अपनी इन विशेषताओं और पर –नाम–स्थापना–द्रव्य भाव से अवक्तव्यम हो सकती है; जैसे 'स्यात–घटः अस्ति च, अवक्त्यम च' का तात्पर्य है कि यदि घड़े के द्रव्य–रुप (मृतिका) को देखें तो घड़ा है; किन्तु इसके द्रव्य रुप मृतिका और परिवर्तनशील रुप दोनों को एक ही समय में देखे; तो वह अस्तित्ववान होने पर भी अनिवर्चनीय है।

2.3.5 स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम्

स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् से तात्पर्य है कि किसी भी वस्तु एक समय में अभाव हो सकता है और वह अवक्तव्यम भी हो सकती है; जैसे 'घट पट नही है';। यह घट पट की अपेक्षा अभाव रुप है तथा स्वरुपाभिव्यक्ति की दृष्टि से वह अवक्व्य है। यहाँ जैन दार्शनिक यह स्पष्ट करते हैं कि कोई वस्तु पर–नाम–स्थापना– द्रव्य क दृष्टि से अविद्यमान होने पर भी स्व–नाम–स्थापना–द्रव्य भाव की दृष्टि से अवक्तव्य हो सकती है।

2.3.6 स्यात् अस्ति च, नास्ति च, अवक्तव्यम् च

स्यात् अस्ति च, नास्ति च, अवक्तव्यम् च का तात्पर्य है कि एक ही वस्तु एक दृष्टि से अस्तित्वान् हो सकती है तथा अन्य दृष्टि से दूसरी दृष्टि अनस्तित्वान हो सकती है तथा अन्य दृष्टि से अनिवर्चनीय हो सकती है। इस नय में द्रव्य और पर्यायों के एक साथ होने और अलग–अलग होने के कारण घड़ें का अस्तित्व, अनस्तित्व एवं अनिवर्चनीयता व्यक्त होती है।

2.4 जैन दर्शन के अनेकान्तवाद एवं सप्तभंगीनय का समन्वयवादी दृष्टिकोण

जैन दर्शन किसी वस्तु के निरुपण को करने के लिए जिस सप्तभंगीनय सिद्धान्त का सहारा लेता है, उसके द्वारा अनेकान्तवद की ही सिद्धि होती है।

इसीलिए जैन दर्शन यह दावा करता है कि स्याद्वाद से अनेकान्तवाद सिद्ध होता है। जैन दर्शन का यह मानना है कि विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त विभिन्न दृष्टियों पर आधारित होते हैं। इस प्रकार सत्ता सम्बन्धी जितने सिद्धान्त हैं, सत्ता में उतने धर्म हैं अर्थात् सत्ता में अनेक धर्म होते हैं। सप्तभंगीनय के सात परामर्शो से यह प्रमाणित होता है कि वस्तु सम्बन्धी विवेचन अनेक दृष्टियों पर आधारित होता है। इस प्रकार अनेक धर्मात्मक या अनन्त धर्मात्मक होती है। स्याद्वाद विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का अनेकान्तवाद में समन्वय करता है। इस प्रकार यह एक उदारवादी सिद्धान्त है; क्योंकि यह विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रति सहिष्णुता को व्यक्त करता है। यह इस बात पर बल देता है कि प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान्त साप्रेक्ष रुप से सत्य होता है। वह जिस दृष्टि से सत्ता को देखता है, वह उस दृष्टि विशेष से सत्य होता है। विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों में परस्पर विरोध का कारण दृष्टिभेद है।

जैन दर्शन स्याद्वाद के सिद्धान्त के द्वारा जिस ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं वह वस्तुवादी सापेक्षतावादी और बहुलवादी है। स्याद्वाद वस्तुवाद का प्रतिपादन एवं समर्थन करता है। स्याद्वाद के अनुसार हमारे परामर्श मानसिक प्रत्यय मात्र नहीं हैं; बल्कि वह वस्तु के वास्तविक धर्मो की ओर संकेत करते हैं और उन्हीं धर्मो पर आधारित होते हैं। वस्तु के ये धर्म हमारे मन की संरचना नहीं है। जैन दर्शन का स्याद्वाद सापेक्षतावादी सिद्धान्त है। वस्तुतः यह वस्तुवादी सापेक्षवाद है; क्योंकि यह मानव ज्ञान को वस्तुओं के धर्मो के सापेक्ष मानता है और ये धर्म मनस्वंत्र न होकर वस्तुतन्त्र है। इस प्रकार प्रत्ययवादी सापेक्षवाद से भिन्न है, जिसमें वस्तु के धर्मो का मनस्वत्रंत माना जाता है। स्याद्वाद बहुलवाद अथवा बहुलवादी वस्तुवाद है; क्योंकि वह वस्तु के अनन्त धर्मो को स्वीकार करता है, जो मन पर निर्भर न होकर वस्तुतन्त्र होते हैं।

2.5 जैन दर्शन के स्याद्वाद की समीक्षा

भारतीय दर्शन के विभिन्न निकायों द्वारा जैन दर्शन के स्याद्वाद को अस्वीकार किया गया है और इसके विरुद्ध विभिन्न आपत्तियाँ उठायी गयी हैं। जैन दर्शन के स्याद्वाद के प्रमुख आलोचकों में बौद्ध मीमांसक एवं अद्धैत वेदान्ती दार्शनिकों के विचार उल्लेखनीय हैं। जैन दर्शन के स्याद्वाद के विरुद्ध निम्नलिखित आक्षेप किये जाते हैं–

2.5.1 अद्धैत वेदान्ती आचार्य शंकर ने स्याद्वाद को संशयवाद या अनिश्चिततावाद की संज्ञा दी है। इसे कभी–कभी अज्ञेयवाद और प्रंसभाव्यतावाद का सिद्धान्त कहा जाता है। वस्तुः जैन दर्शन पर यह आरोप 'स्यात' शब्द के शाब्दिक अर्थ के आधार पर लगाया जाता है। स्याद्वाद को संशयवाद कहने वाले आलोचक 'स्यात' शब्द का अर्थ 'हो सकता है' शायद', 'कथंचित्' एवं 'प्रसंभाष्य' करते हैं। बौद्धों एवं वेदान्तियों ने स्याद्वाद् को संशयवाद या संभावनावाद कहकर इसकी कटु आलोचना की है और इसे 'पागलो का प्रलाप' कहा है।

परन्तु जैन दर्शन का स्यादवाद् संशयवाद, प्रसंभाष्यवाद, अनिश्चिततांवाद एवं अज्ञेयवाद नहीं है। जैन दर्शन में 'स्यात्' एक पारिभाषिक शब्द है, जो ज्ञान की सापेक्षता की ओर संकेत करता है। स्याद्वाद से यह धवनित होता है कि स्यात्पूर्वक जो परामर्श बना है, कतिपय परिस्थितियों, देश एवं काल के सन्दर्भ में है और उस परामर्श के सन्दर्भ में वह सत्य है।

2.5.2 जैन दर्शन के स्याद्वाद के आलोचकों सप्तभंगीनय के तृतीय नय को आत्मव्याघाती मानते हैं। उनका कहना है कि कोई वस्तु 'है' और 'नहीं है' एक साथ कैसे हो सकती है? बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति का कथन है कि ''ये निर्लज्ज जैन दार्शनिक पागल मनुष्य के समान परस्पर विरोधी कथन करते हैं'' आचार्य शंकर के अनुसार, स्याद्वाद जो कि यथार्थ और अयथार्थ, अस्तित्व और अनस्तितत्व, एक और अनेक, अभिन्न और भिन्न तथा सामान्य एवं विशेष आदि का मिश्रण करता है, पागल व्यक्ति के प्रलाप के समान प्रतीत होता है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज के अनुसार भाव एवं अभाव, से दोनों परस्पर विरोधी गुण किसी एक पदार्थ में उसी प्रकार नहीं रह सकते, जिस प्रकार प्रकाश एवं अन्धकार एक स्थान पर नहीं रह सकते।

परन्तु जैन दार्शनिक यह कभी नहीं कहते हैं कि 'किसी वस्तु में परस्पर विरोधी गुण एक ही दृष्टि से रहते हैं। उनके अनुसार वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं। विभिन्न दृष्टियों से विचार करने पर उसके धर्मो में कोई विरोध नहीं दिखायी देता। द्रव्य की दृष्टि से वस्तु में एकता एवं नित्यता आदि का विधान किया जा सकता है, तो पयार्य की दृष्टि से अनेकता एवं अनित्यता आदि का। जैन दार्शनिकों का यह स्पष्ट अभिमत है कि एक ही समय में और एक ही अर्थो में किसी पदार्थ में परस्पर विरोधी गुण नहीं रह सकते। इसकी व्याख्या में वे कहतें हैं कि प्रत्येक पदार्थ जटिल रुप का है अर्थात भेदों के रहते हुए भी एकात्मक रुप में विद्यमान है। वास्तविक सत्ता अपने अन्दर भेदों को अनुस्यूत रखती है।

2.5.3 जैन दर्शन के स्याद्वाद के विरुद्ध यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि सप्तभंगीनय की परीक्षा करने पर यह ज्ञात होता है कि उसके अन्तिम तीन नय अतिरिक्त, अनावश्यक एवं व्यर्थ हैं। वे प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय नयों के साथ चतुर्थ के योगमात्र हैं। आचार्य कुमारिल का मानना है कि इस आधार पर सात ही क्यों सैकड़ों 'नय' बनाये जा सकते हैं।

अद्वैत वेदान्तियों का यह मानना है कि 'सप्तभंगीनय की कोई क्रियात्मक उपयोगिता नहीं है, यह उनकी एक निजी सम्मति है, इसलिए इस विषय में कुछ कहने से व्यर्थ का समय नष्ट करना है।

2.5.4 जैन दर्शन के स्याद्वाद के अनुसार मनुष्य के सभी ज्ञान सापेक्ष एवं आंशिक हैं। जैन दार्शनिक निरपेक्ष सत्ता के ज्ञान को अस्वीकार करते हैं। परन्तु निरपेक्ष को स्वीकार किये बिना सापेक्ष की अवधारणा को स्वीकार करना असंभव है। पुनः जैन दार्शनिक 'केवल ज्ञान' के शुद्ध पूर्ण अपरोक्ष और परमार्थ ज्ञान मानते हैं, जो सभी आदरणीय कर्मो के क्षय हो जाने पर प्राप्त होता है। यद्यपि जैन दार्शनिक स्वयं इसके लिए 'निरपेक्ष' शब्द का प्रयोग नहीं करते, किन्तु न चाहते हुए भी निरपेक्ष को मान्यता प्रदान करते हैं।

2.5.5 आलोचकों का कहना है कि जैन दर्शन स्याद्वाद एवं सप्तभंगीनय के आधार पर अन्य मतों की परीक्षा तो करता है, किन्तु इसके आधार पर वह स्वंय की परीक्षा नहीं करता। वह स्यादवाद के आधार पर अन्य मतों को सापेक्ष एवं आंशिक सत्य मानता है; किन्तु वह अपने सिद्धान्त को एक मात्र सत्य घोषित करके अपने स्याद्वाद की मूल भावना की ही उपेक्षा कर

बैठता है। इस प्रकार स्याद्वाद एवं सप्तभंगीनय अन्तर्विरोध से ग्रसित सिद्धान्त है।

2.5.6 जैन दर्शन का स्याद्वाद ज्ञान के प्रमाणीकरण एवं सत्यता को अत्यन्त व्यापक बना दिया है, जिसके परिणामस्वरुप यह एक हास्यापद सिद्धान्त मात्र बनकर रह जाता है। यदि प्रत्येक परामर्श को किसी दृष्टिकोण विशेष के आधार पर सत्य माना जाए, तो सत्यता एवं असत्यता का भेद समाप्त हो जाएगा। इस आधार पर 'शंशश्रृंग' और 'आकाश कुसुम' की सत्ता को भी दृष्टि विशेष के आधार पर सत्यापित किया जा सकता है। वस्तुतः जैन दर्शन ने अपने स्याद्वादी ज्ञानमीमांसा के द्वारा जिस उदारता और सहिष्णुता का परिचय दिया है, वह उसके सिद्धान्त की विशेषता न होकर दोष बन जाता है।

2.5.7 जैन दर्शन के स्याद्वाद के द्वारा अनेकान्तवाद की भी स्थापना नहीं होती है। जैन दर्शन का यह दावा अनुचित है कि वह स्याद्वाद के आधार पर अनेकान्तवाद को सिद्ध करता है। वस्तुतः जैन ज्ञानमीमांसा एवं तर्कशास्त्र अद्धैतवाद की ओर ले जाता है। आचार्य शंकर का कथन है कि यदि सभी सिद्धान्त सोपाधिक दृष्टि से सत्य हैं, तो स्यादवाद् भी स्वंय सोपाधिक दृष्टि से सत्य होगा। सापेक्षता निरपेक्ष से सम्बन्धित है और उसके अस्तित्व को पहले से ही स्वीकार कर लेती है। स्याद्वाद हमें बिखरे हुए नयों को देता है; किन्तु उनके समन्वय का प्रयास नहीं करता। सप्तभंगीनय सात नयों का एकत्रीकरण मात्र है, उनका समन्वय नहीं। स्याद्वाद के सातों नय बिखरें हुए मोतियों या पुष्पों के समान हैं; जिन्हें निरपेक्ष रुपी धागे के अभाव में दार्शनिक माला में पिरोया नही जा सकता। निरपेक्षा ही वह सूत्र है जो सब सापेक्षों में एकता स्थापित करता है। निरपेक्ष ही सापेक्षों को जीवन, अर्थ एवं महत्व प्रदान करता है। 'अनन्तधर्मात्कं कहने से एवं धर्मों की उपेक्षा करने से तत्व का बोध नहीं हो सकता। केवल ज्ञान अवधारणा, स्याद्वाद की एक मात्र स्वीकृति उसे अद्धैतवाद पर ले जाती है।

इस प्रकार स्याद्वाद तर्कतः अद्धैतवाद को सिद्ध करता है, जिसकी वह उपेक्षा करना चाहता है।

2.6 निष्कर्ष

जैन दर्शन स्याद्वाद द्वारा अपने अनेकान्तवादी तत्वमीमांसा का पोषण करता है। उसका यह स्याद्वाद वस्तुवाद सापेक्षवाद और बहुलवाद के रुप में प्रचलित हुए हैं। परन्तु जैन दर्शन के स्याद्वाद का बौद्ध, मीमांसक एवं अद्धैत–वेदान्त द्वारा कटु आलोचना की गयी है; जो इस प्रकार है– आचार्य शंकर ने स्याद्वाद को संशयवाद एवं अनिश्चिततावाद की संज्ञा दिया है। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने जैन दर्शन के स्याद्वाद के विषय में अपने आलोचनात्मक मत को व्यक्त करते हुए कहा है कि 'ये निर्लज्ज जैन दार्शनिक पागल मनुष्य के समान परस्पर विरोधी कथन करते हैं। कुछ आलोचकों का यह कहना है कि सप्तभंगीनय की परीक्षा करने पर ज्ञात होता है उसके अन्तिम तीन नय अतिरिक्त अनावश्यक और व्यर्थ है। कुछ लोगों का जैन दर्शन के स्याद्वाद पर यह भी आरोप है कि जैन दर्शन के अनुसार हमारे सारे ज्ञान सापेक्ष एवं आंशिक हैं; किन्तु बिना निरपेक्ष

स्वीकार किये सापेक्ष की अवधारणा को भी नहीं स्वीकार किया जा सकता है। आचाय ि शंकर यह कहना है कि यदि सभी सिद्धान्त आपेक्षिक दृष्टि से सत्य है तो स्याद्धादवाद स्वयं आपेक्षिक दृष्टि से सत्य होगा। इस प्रकार स्याद्धाद हमें बिखरे हुए नयों को देता है; किन्तु उनके समन्वय का प्रयास नहीं करता। वास्तविकता यह है कि निरपेक्ष ही सापेक्षों को जीवन अर्थ एवं महत्व प्रदान करता है। अतएव स्याद्धाद तर्कतः अद्धैतवाद को सिद्ध करता है; जिसकी जैन दर्शन उपेक्षा करते हैं। कहा जा सकता है कि जैन दर्शन अपने नय सिद्धान्त द्वारा विभिन्न प्रकार के मतभेदों का व्यावहारिक दृष्टि से समाधान करने का प्रयास किया है। विभिन्न दार्शनिकों द्वारा जैन दर्शन की जो आलोचना की गयी है, उसका प्रमुख कारण जैन दर्शन की अनेकान्तवादी तत्वमीमांसीय दृष्टिकोण है। वस्तुतः जैन दर्शन के सप्तभंगीनय का लक्ष्य मात्र इतना है कि मानव द्वारा निर्वचनीय प्रत्येक कथन पूर्ण सत्य को उद्घाटित नहीं करता है।

2.7 सारांश

जैन दर्शन की तत्वमीमांसा अनेकान्तवाद का पोषण करती है। जैन दर्शन अपने अनेकान्तवाद की सिद्धि के लिए 'स्याद्वाद' का सहारा लेते हैं। वास्तविकता यह है कि जैन दर्शन की तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा दोनों ही सापेक्षतावाद पर आधारित है। जैन दर्शन 'स्यादवाद' के द्वारा यह दिखलाते हैं कि सामान्य मनुष्य के लिए किसी भी वस्तु के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। जैन दर्शन अपने स्यादवादी ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त में यह स्थापना करता है कि वस्तुओं के अन्दर इतनी जटिलता पायी जाती है कि उनके विषय में निश्चित रुप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इसलिए वस्तुगत का हमारा सम्पूर्ण ज्ञान एकांगी, अपूर्ण, आंशिक एवं सीमित होता है। जैन दर्शन का यह मानना है कि हमारे समस्त प्रकथन, परामर्श और न्यायवाक्य एकांगी, सापेक्ष एवं सीमित होते हैं। जैन दर्शन में इसी ज्ञानमीमांसीय एवं तर्कशास्त्रीय सिद्धान्त का नाम स्याद्वाद है। जैन दर्शन में वस्तु के विषय में आंशिक ज्ञान को 'नय' कहते हैं। 'नय' जैन दर्शन में एक दृष्टिकोण है जिससे यह व्यक्त होता है कि कोई भी ज्ञान एक दृष्टि ये सत्य है, और अन्य दृष्टि से असत्य है। जैन दर्शन इस दृष्टिकोण विशेष को स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक परामर्श के पूर्व 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैन दर्शन में किसी परामर्श के पूर्व 'स्यात' शब्द के प्रयोग के द्वारा यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि कोई भी परामर्श दृष्टिकोण, परिस्थिति, देश और काल के ही सन्दर्भ में सत्य हो सकता है। जैन दर्शन का यह स्पष्ट अभिमत है किसी भी वस्तु के विषय मे मनुष्य का ज्ञान हो सकते हैं; किन्तु जैन दर्शन वस्तु सम्बन्धी दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे केवल सात सम्भावनाओं पर ही विचार किया है, जिसे जैन दर्शन में सप्तभंगीनय के नाम से जाना जाता है। जैन दर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु के विषय में स्यात्पूर्वक सात परामर्श किये जा सकते हैं–

1. स्याति नास्ति च
2. स्याति अस्ति च नास्ति च
3. स्यात् अवक्तव्यम्
4. स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम्
5. स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम्

6. स्यात् अस्ति च, नास्ति च, अवक्तव्यम् च

यद्यपि जैन दर्शन के स्यादवा् का बौद्ध दार्शनिकों, मीमांसकों एवं वेदान्तियों द्वारा कटु आलोचनाओं के बावजूद भी जैन दर्शन के स्याद्वाद की महत्ता कम नहीं होती है; क्योंकि जैन दर्शन विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रति उदारवादी एवं सहिष्णुता के दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

2.8 बोध प्रश्न

1. जैन दर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त का विवेचन कीजिए।

____
____
____
____

2. क्या जैन दर्शन का स्यादवाद् सापेक्ष, सीमित एवं आंशिक ज्ञान का पोषण करता है? विवेचन कीजिए।

____
____
____
____

3. क्या जैन दर्शन का स्याद्वाद विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों के प्रति उनके उदारवादी दृष्टि कोण का परिचायक है? विवेचन कीजिए।

____
____
____
____

4. जैन दर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु के विषय में स्यात्पूर्वक सात परामर्शो का वर्णन कीजिए?

____
____
____
____

2.9 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन– डॉ0 नन्द किशोर देवराज
2. भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन–चन्द्रधर शर्मा
3. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण– प्रो0 संगम लाल पाण्डेय

****

इकाई–3

जैन आचारमीमांसा: बन्धन और मोक्ष

<u>इकाई की रुपरेखा</u>

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 जैन दर्शन में बन्धन का स्वरुप

3.3 जैन दर्शन में मोक्ष का स्वरुप

3.4 जैन दर्शन में मोक्ष के साधन

3.4.1 सम्यक् दर्शन

3.4.2 सम्यक् ज्ञान

3.4.3 सम्यक् चरित्र

3.5 जैन दर्शन के पंच महाव्रत

3.5.1 अहिंसा

3.5.2 सत्य

3.5.3 अस्तेय

3.5.4 ब्रह्मचर्य

3.5.5 अपरिग्रह

3.6 निष्कर्ष

3.7 सारांश

3.8 बोध प्रश्न

3.9 बोध प्रश्न के उत्तर

3.10 उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में जैन दर्शन के 'बन्धन एवं मोक्ष' के आचारमीमांसा पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। जैन दर्शन में मानव कर्म भौतिक एवं पौद्गलिक है। मानव के कर्म पुद्गलों के कारण ही बन्धन की अवस्था ही मोक्ष है। कर्म पुद्गलों का जीव से वियुक्त होने की अवस्था ही मोक्ष है। कर्म पुद्गलों का जीव को जकड़ लेना ही बन्धन है और जीव का कर्म पुद्गलों से सर्वथा छूट जाना मोक्ष है। जैन दर्शन मनुष्य को बन्धन से मुक्त होने के लिए 'त्रिरत्न'–सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान

एवं सम्यक् चरित्र का मार्ग सुझाया गया है। त्रिरत्न को आचरण में उतारकर मनुष्य अपने मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। जैन दर्शन मोक्ष की अवस्था में पहुँचने के लिए मनुष्य के लिए चौदह सोपानों का उल्लेख करता है। इन चौदह सोपानों के साधना पथ से गुजरते हुए मनुष्य अपने मोक्ष की अवस्था से प्राप्त करता है। जो उसके आत्मिक विकास का मूल प्रयोजन था। जैन दर्शन आत्मिक विकास की चौदह सोपान क्रमों को गुण–स्थान कहते हैं गुण स्थान के चौदह सोपानों में अन्तिम सोपान 'अयोग केवालिन् गुण स्थान है, जिसमें जीव शरीर रहित होकर मुक्त हो जाता है और अपनी नैसर्गिक सर्वज्ञता तथा अनन्तचतुष्टय की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

3.1 प्रस्तावना

जैन दर्शन भी अन्य भारतीय दर्शनों की भांति 'बन्धन एवं मोक्ष' की अवधारणा को केन्द्रीय स्थान प्रदान करता है। जैन दर्शन में 'जीव' को स्वभावतः शुद्ध, पूर्ण, सर्वज्ञ एवं केवल ज्ञान से युक्त माना गया है। जैन दर्शन का यह मानना है कि जीव में अज्ञानवश वासनाँ, होती है; जिनसे कर्म उत्पन्न होते हैं और कर्म जीवात्माओं को आवरण बनकर ढँक लेते हैं, जिसके कारण जीवों को अपना वास्तविक स्वरुप नहीं ज्ञात होता है, क्योंकि जैन दर्शन में जीव स्वभावतः पूर्ण एवं मुक्त है। जीव में 'अनन्तचतुष्ट्य' अर्थात चार प्रकारी की पूर्णताएं पायी जाती है। ये पूर्णताएं हैं– अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य एवं अनन्त आनन्द। जीव के ये स्वाभाविक गुण केवल मुक्त जीवों में अभिव्यक्त होते हैं। परन्तु कर्मफल से सम्पृक्त होने के कारण सांसारिक जीवों में 'अनन्तचतुष्ट्य' की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। और ऐसे जीवों को बन्धनग्रस्त होकर संसार में विभिन्न प्रकार के दुःखों को भोगना पड़ता है। जैन दर्शन में कर्म भौतिक एवं पौद्गालिक है। कर्म पुद्गलों से का जीव को जकड़ लेना बन्ध है और जीव का कर्म पुद्गलों से सर्वथा छूट जाना मोक्ष है। जैन दर्शन में जीव के बन्धन का हेतु आस्रव (कर्म पुद्गल का जीव की ओर प्रवाहमान होना और उसमें प्रविष्ट होना) है। जिस प्रकार 'बन्धन' या 'बन्ध' का कारण 'आस्रव' है, उसी प्रकार 'निर्जरा' (कर्म पुद्•ल का जीव (आत्म) से बर्हिगमन या निष्कासनद्ध मोक्ष का कारण है। 'आस्रव एवं निर्जरा' के बीच में 'संवर' की स्थिति है, जिसका तात्पर्य है– आस्रव का निरोध, इस निरोध के पश्चात् निर्जरा की प्रक्रिया आरम्भ होती है।

3.2 जैन दर्शन में बन्धन का स्वरुप

जैन दर्शन में जीव चेतन द्रव्य है। चैतन्य जीव का स्वरुप लक्षण है– 'चैतन्य लक्षणों जीवः'। प्रत्येक जीव स्वरुप से 'अनन्तचतुष्टय' से सम्पन्न है अर्थात अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य से जीव सम्पन्न माना जाता है। कर्म फल से सम्पृक्त होने के कारण बध्द जीवों पर कर्म का आवरण पड़ जाता है। जिससे उनमें 'अनन्तचतुष्ट्य' जैसे स्वरुप धर्मों का प्रकाशन नहीं होता। जैन दर्शन के अनुसार संसारी जीवों के शरीर मन इन्द्रिय आदि पौद्गालिक होने के कारण कर्म द्वारा स्थापित 'आवरण' हैं, जो जीव के नैसर्गिक ज्ञान को अवरुद्ध करतें हैं और उसके शुद्ध स्वरुप के ज्ञान में बाधक हैं। जब जीव के आवरणीय

कर्मो का क्षय हो जाता है, तब जीव पुनः अपने स्वरुप में प्रकाशित हो जाता है। जैन दर्शन में कर्मफल का आत्यान्तिक क्षय ही सर्वज्ञता या मोक्ष है। जैन दर्शन में कर्म को भौतिक और पौद्गलिक माना गया है। इसीलिए कर्म पुद्गलों द्वारा जीव को जकड़ लेना ही 'बन्ध' है और जीव का कर्म पुद्गलों से सर्वथा छूट जाना मोक्ष है।

जैन दर्शन में अन्य भारतीय दर्शन की भांति 'जन्म ग्रहण करना' ही 'बन्धन' है। यह बन्धन जीव और कर्म पुद्गलों के संयोग के कारण होता है। शरीर धारण करने से या कर्म पुद्गलों से संयोग होने के कारण जीव की स्वाभाविक पूर्णता तिरोहित हो जाती है और उसके स्वरुप की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार कर्म ही बन्धन का मूल कारण है। कर्म जी से संयुक्त होकर उसके स्वरुप पर आवरण पड़ जाने के कारण बन्धन ग्रस्त हो जाता है। जैन दर्शन जीव एवं कर्म का सम्बन्ध अनादि मानता है। बन्धन की प्रक्रिया में कर्म स्वतः प्रवृत्त होता है। जैन दर्शन में जीव की सम्पू.र्ा शारीरिक विशेषताएं कर्म जन्य मानी जाती हैं। जैन दर्शन में आठ प्रकार के कर्म स्वीकार किये जाते हैं, जो इस प्रकार हैं— ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म, वेदनीय कर्म, गोत्र कर्म, आयुष्कर्म, नाम कर्म और अन्तराय कर्म। जैन दर्शन में 'ज्ञानावरणीय कर्म' जीव के ज्ञान पर आवरण डालने वाले कर्म है। ज्ञानावरणीय कर्म के कारण जीव अपने 'अनन्त चतुष्टय' के मूल स्वरुप से तिरोहित हो जाता है। 'दर्शनावरणीय कर्म' जीव के विश्वास को नष्ट करने वाले कर्म हैं। 'मोहनीय कर्म' जीव का सांसारिक वस्तुओं से आसाक्ति पैदा करने वाले कर्म हैं। 'वेदनीय कर्म' सुख—दुःख की अनुभूति कराने वाले कर्म हैं। गोत्र कर्म वे कर्म हैं जो यह निश्चित करते हैं कि जीव का जन्म किस गोत्र में हुआ है। 'आयुष्कर्म' जीव की आयु निर्धारित करने वाले कर्म हैं। 'नाम कर्म' से व्यक्ति नाम का निश्चय होता है तथा 'अन्तराय कर्म' बाधा उत्पन्न करने वाले कर्म है। जैन दर्शन में वर्णित आठ प्रकार के कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों' को घातीय कर्म कहा गया है। इन्हें 'घातीय कर्म' इसलिए कहा जाता है क्योंकि इन्हें बहुत कठिनाई से दूर किया जा सकता है। अन्य चार प्रकार के कर्म (वेदनीय, आयुश्य, नाम और गोत्रद्ध अघातीय कर्म हैं, क्योंकि ये जीव के स्वरुप को केवल ढँक लेते हैं, परन्तु इन्हें दूर करने में बहुत कठिनाई नहीं होती है। इस प्रकार जैन दर्शन में यह दिखाया गया है कि कर्म ही जीव के अन्दर प्रविष्ट होकर उसे जन्म लेने के लिए उसी प्रकार बाध्य करता है, जैसे ताप लोहे से और जल दूध से संयुक्त होकर उसी के स्वरुप को प्राप्त कर लेता है। जैन दर्शन का यह मानना है कि जीव अपने कर्मों के अनुसार शरीर धारण करता है। जीव के अतीत कर्मों से जीव में वासनाएं पैदा होती है। ये वासनाएँ तृप्त होना चाहती है; परिणाम स्वरुप वह पुद्गलों को अपनी ओर आकृष्ट करके जीव को शरीर से संयुक्त कर देती हैं।

जैन दर्शन के जीव के सम्बन्ध में प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि जीव कर्म क्यों करता है? इस प्रश्न के उत्तर में जैन दर्शन का कहना है कि जीव अनादि अविद्या के कारण कर्म पुद्गलों से संयुक्त हो जाता है और कर्म करता है। इसलिए वास्तविक रुप में अविद्या ही जीव के बन्धन का कारण है। जैन दर्शन में जीव के बन्धन के पाँच कारण बताये गये हैं— मिथात्व (सद्सद्विवेक), अविरति (वैराग्य का अभाव अर्थात रागादि) प्रमाद, कषाय (क्रोध, लोभ, मान और माया) और योग (मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया)। मिथात्व के कारण जीव को अपने स्वरुप का अन्यथा ज्ञान होता है। परिणाम स्वरुप उसमें अविरति एवं प्रमाद आ जाता है। अपने स्वाभाविक स्वरुप के ज्ञान एवं शुभ—अशुभ के विषय में उदासीनता ही क्रमशः अविरति एवं प्रमाद है। जीव में अविरति एवं प्रमाद से क्रोध, लोभ, मोह,

मान और माया जैसी कुप्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं। जैन दर्शन जीव में उत्पन्न क्रोध, लोभ, मान और माया जैसी कुप्रवृत्तियों को 'कषाय' कहते हैं। ये कषाय 'योग' द्वारा कर्म पुद्गल को जीव से संयुक्त करते हैं, जिसके कारण जीव का शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक स्पन्दन होता है। वास्तविकता यह है कि कषायों के कारण ही जीव कर्म पुद्गलों को ग्रहण कर लेता है, जो उसमें घुसकर उसे जकड़ लेते हैं और कर्म पुद्गलों के द्वारा जीव को जकड़ लेना ही बन्धन है।

जैन दर्शन जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध एवं विच्छेद, संयोग एवं वियोग दिखाने के लिए पाँच अवस्थाओं का निरुपण किया है, जिन्हें वे पदार्थ की संज्ञा से अभिहित करते हैं। ये पाँच पदार्थ हैं– आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष। इनके साथ जीव एवं अजीव को मिलाने पर ये 'सप्तपदार्थ बन जाते हैं और इनके साथ 'पाप' एवं 'पुण्य' को जोड़ देने पर इनकी संख्या नौ हो जाती है।

जैन दर्शन में आस्रव का अर्थ है– बहना, प्रवाह अर्थात कर्म पुद्गलों का जीव की ओर प्रवाह आस्रव कहलाता है। आस्रव बन्धन का कारण है, क्योंकि आस्रव के अभाव में कर्म पुद्गल जीव में प्रवेश नहीं कर सकते। जैन दर्शन में आस्रव के दो भेद हैं– 'भावस्रव' एवं द्रव्यास्रव। जीव में कर्मा पुद्गलों के प्रवेश के पूर्व जीव के भावों में जो परिवर्तन होता है, जिसे 'भावस्रव' कहते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जीव में कर्म को उत्पन्न करने वाले रागादि भावों का उदय एवं मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रिया 'भावास्रव' है। कर्म का जीव पुद्गलों की ओर प्रवाहित होना 'द्रव्यास्रव' है। 'द्रव्यास्रव' की अवस्था में जीव में कर्म पुद्गलों का प्रवेश हो जाता है। जैन दर्शन का मानना है कि जिस प्रकार तेल से लिप्त शरीर पर धूलराशि चिपक कर जमा हो जाती है, उसी प्रकार कर्म पुद्गल जीव पर चिपक जाते हैं। तेल से लिप्त होना 'भावास्रव' है और उस पर धूलराशि का चिपक जाना 'द्रव्यास्रव' है।

जैन दर्शन के अनुसार जब कर्म पुद्गल जीव में घुसकर उसे जकड़ लेते हैं, तब इनसे बँध जाना 'बन्ध' है। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार कषायों के कारण कर्मानुसार जीव पुद्गल से आक्रान्त हो जाना ही बन्धन है। जैन दर्शन में 'बन्ध' भी दो प्रकार का है– भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध। जीव में कर्म पुद्गलों के प्रवेश के पूर्व उसमें 'भावास्रव' उत्पन्न होता है, उसके पश्चात् जीव का जो बन्धन होता है। वह 'भाव–बन्ध' होता है। दूसरे शब्दों में 'कषाय' एवं कर्म का उदय 'भाव–बन्ध' है। जैन दर्शन का मानना है कि एक बार कर्म में फँस जाने पर कर्म चक्र निरन्तर चलता रहता है, कर्म मल गहराता जाता है, कर्म बन्धन बढ़ता जाता है। एक कर्म से दूसरा, दूसरे से तीसरा, तीसरे से चौथा, इस प्रकार कर्म प्रवाह निरन्तर चलता रहता है, जब तक इसे सायास न रोका जाय।

3.3 जैन दर्शन में मोक्ष का स्वरुप

जैन दर्शन के अनुसारस जीव का कर्म पुद्गलों से वियुक्त हो जाने की अवस्था मोक्ष है। जैन दर्शन के अनुसार चूँकि 'जीव' का कर्म पुद्गलों से संयुक्त होना 'बन्धन' है; अतः जीव का कर्म पुद्गलों से वियुक्त हो जाना ही 'मोक्ष' है। जैन दर्शन के अनुसार कर्म पुद्गलों से जीव का वियोग होने के लिए दो चीजें आवश्यक हैं– नये कर्म पुद्गलों का जीव की आस्रव बन्द जो जाय। और जीव में प्रविष्ट हुए पुराने कर्म पुद्गल का क्षय हो जाय। इनमें से प्रथम अवस्था 'संवर' है और द्वितीय अवस्था 'निर्जरा' है। जैन दर्शन के अनुसार जीव में आने वाले कर्मो

को सर्वथा अवरुद्ध कर देना 'संवर' कहलाता है। जीव में कर्मो का प्रवेश बन्द हो जाने से नये कर्म प्रविष्ट नहीं हो सकते। यह क्रिया 'आस्रव' क्रिया के ठीक विपरीत है। कर्म–प्रवाह का मार्ग खोलना 'आस्रव' है और इस मार्ग को बन्द कर देना 'संवर' है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संवर से नये कर्मो का 'जीव' में प्रविष्ट होना निरुद्ध हो जाता है अर्थात संवर नये कर्म पुद्गलों के आस्रव तथा बन्धन को रोकने की अवस्था है। जैन दर्शन में संवर दो प्रकार का है– भाव संवर और द्रव्य संवर। भाव संवर द्रव्य संवर की पूर्ववर्ती अवस्था है; जिसमें भावास्रव निरुद्ध होता है अर्थात जीव के राग–द्वेष मोह रुप विकारों का निरोध होता है। जैन दर्शन के अनुसार 'भाव संवर' में जीव में कर्म पुद्गलों का न प्रवेश न हो इसके लिए मानस व्यापार, नैतिक आचरण और योग क्रियाएं आती हैं, जिनसे कर्म प्रवाह बन्द किया जा सकता है। 'द्रव्य संवर' में नये कर्म पुद्गलों का प्रवेश निरुद्ध हो जाता है। दूसरे शब्दों में 'द्रव्य संवर' नये कर्म पुद्गल के प्रवेश के वास्तविक निरोध को कहते हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि जैन दर्शन में 'संवर' जीव में नये कर्म पुद्गलों के प्रवेश की निरोध की अवस्था है।

जैन दर्शन का यह मानना है कि संवर की अवस्था में जीव मे नये कर्म पुद्गलों का प्रवेश तो बंद हो जाता है किन्तु जीव में पहले से प्रविष्ट हुए कर्म पुद्गल जो जीव में पहले से विद्यमानस हैं जीव को दूषित किये ही रहते हैं। अतएव केवल संवर से जीवात्मा कर्म पुद्गलों से छुटकारा नहीं प्राप्त कर पाता। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि जीवात्मा में पहले से प्रविष्ट हुए कर्म पुद्गलों का भी क्षय हो। अतएव जीव देना 'निर्जरा' है। जैन दर्शन में 'निर्जरा' के भी दो भेद प्राप्त होते हैं– 'भाव निर्जरा' एंव द्रव्य निर्जरा। साधक में भाव निर्जरा में पहले से जीव में विद्यमान कर्मो के क्षय की भावना उत्पन्न होती है। द्रव्य निर्जरा में आत्मा में पहले से प्रविष्ट हुए प्राचीन कर्म पुद्गलों का वास्तविक क्षय हो जाता है। जीव में पहले से विद्यमान अन्तिम कर्म पुद्गल का भी क्षय हो जाय और जीव से कर्म पुद्गल बिल्कुल साफ हो जाय, इसके लिए जैन दर्शन में कठोर साधना की आवश्यकता होती है। इसलिए जैन साधक को निर्जरा की अवस्था में सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चरित्र के अभ्यास से जीवात्मा में प्रविष्ट हुए कर्म पुद्गलों का क्षय किया जाता है। अर्थात जब कर्म पुद्गलों का जीव में आत्यान्तिक क्षय हो जाता है, तब जीव अपने सहज सर्वज्ञ रुप से प्रकाशित होता है, यही 'मोक्ष' है, यही केवल ज्ञान की प्राप्ति है।

3.4 जैन दर्शन में मोक्ष के साधन

जैन दर्शन में मोक्ष के साधन का वर्णन करते हुए कहा गया है कि – 'सम्यक् दर्शन ज्ञानचरित्राणि' मोक्ष मार्गः' अर्थाता सम्यक दर्शन, सम्यक् चरित्र और सम्यक् ज्ञान मोक्ष के मार्ग माने जाते हैं। जैन दर्शन के 'मोक्ष' मीमांसा में इन तीन साधनों का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि तीनों सम्मिलित रुप से साधन है। इसलिए जैन दार्शनिक इन्हें 'त्रिरत्न' (Threee Jewls) कहते हैं। इसलिए जैन दार्शनिक बन्धन का कारण है और कर्म का कारण 'अज्ञान' या 'अविद्या' क्योंकि जीव अज्ञान के कारण अपने स्वाभाविक स्वरुप को विस्मृत कर कषायों से चिपका रहता है। अतः जीव के बन्धन का यथार्थ कारण अज्ञान है। यही कारण है कि जैन दर्शन 'मोक्ष' की प्राप्ति के लिए अज्ञान का विनाश आवश्यक है। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति

के लिए जैन तीर्थंकरों के उपदेशों में श्रद्धा (सम्यक् दर्शन) का होना आवश्यक है। वास्तविकता यह है कि केवल यथार्थ ज्ञान से ही 'मोक्ष' नहीं प्राप्त होता है, अपितु उस यथार्थ ज्ञान के प्राप्ति श्रद्धा करना भी आवश्यक है। इस प्रकार जैन दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक् चरित्र अनिवार्य साधन माने गये हैं। जैन दर्शन में 'मोक्ष' के ये त्रिरत्न इस प्रकार हैं–

3.4.1 सम्यक् दर्शन

जैन दर्शन के लिए 'आस्था' पर बल देता है। जैन दर्शन, धर्म और इसके तीर्थकरों के उपदेशों में दृढ़ विश्वास को सम्यक् दर्शन की आवश्यकता संशय के निवारण के लिए होती है, सम्यक् दर्शन अन्धविश्वास कर्मो का विनाश से होता है। वस्तुतः सम्यक् दर्शन अन्धविश्वास नहीं है, अपितु यह जैन साधकों, तीर्थकरों एवं उनके उपदेशों के प्रति दृढ़ निष्ठा है। जैन दार्शनिक मणिभद्र का कथन है कि– ''न महावीर के प्रति मेरा पक्षपात है और न कपिल आदि दार्शनिकों के प्रति द्वेष है, मै केवल तर्कसंगत वचन को स्वीकार करता हूँ, वह चाहें जिस किसी का हो।'' अतएव यह स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन में सम्यक् दर्शन बौद्धिक श्रद्धा है जो सम्यक् ज्ञान के लिए आवश्यक है।

3.4.2 सम्यक् ज्ञान

जैन सिद्धान्तों और तत्वों के गहन एवं यथार्थ ज्ञान को 'सम्यक् ज्ञान' कहा जाता है। इसमें 'जीव' और 'अजीव' के मूल तत्वों का पूर्ण ज्ञान होता है। यह तत्वों का असंदिग्ध एवं दोषरहित ज्ञान है। ज्ञानावरणीय कर्मों के विनाश से सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है।

3.4.3 सम्यक् चरित्र

सम्यक् ज्ञान को आचरण में परिणत करना सम्यक् चरित्र है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ज्ञान को अपने आचरण में चरितार्थ करना ही सम्यक् चरित्र है। जैन दर्शन में अकल्याणकारी कर्मो का परित्याग और कल्याणकारी कर्मों का आचरण ही सम्यक् चरित्र है। यह जैन साधना का सबसे महत्वपूर्ण अंग है, क्योंकि मनुष्य सम्यक् चरित्र के द्वारा ही अपने जीवन के लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त कर सकता है। सम्यक् चरित्रह के लिए जैन दर्शन में 'पंचमहाव्रत' का पालन आवश्यक है। ये 'पंचमहाव्रत' सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य है। जैन दर्शन में इन पंचमहाव्रतों के पालन का उपदेश दिया गया है। जैन दर्शन में इन महाव्रतों के दो रुप हैं– महाव्रत एवं अणुव्रत। महाव्रत का विधान जैन सन्यासियों के लिए है और अणुव्रत का विधान गृहस्थों के लिए है। जैन संन्यासियों से यह अपेक्षा की गयी है कि वे इन पंचमहाव्रतों का कठोरतापूर्वक पालन करेंगे।, किन्तु गृहस्थों को इन व्रतों के पालन में छूट दी गयी है।

3.5 जैन दर्शन के पंच महाव्रत

3.5.1 अहिंसा

जैन साधना के पंच महाव्रतों में अहिंसा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। जैन दर्शन में 'अहिंसा' का शाब्दिक अर्थ है, मन वाणी और कर्म तीनों से होने वाली किसी भी प्रकार की हिंसा का परित्याग जैन दर्शन में अहिंसा का अर्थ केवल दूसरों को हानि पहुँचाने से बचना ही नहीं है अपितु उनके कल्याण के प्रति सचेत भी

रहना है। यदि व्यक्ति दूसरों का उपकार करने में समर्थ है और वह ऐसा नहीं करता, तो भी वह हिंसा करता है। जैन दार्शनिक सन्यासियों से कठोरतापूर्वक अहिंसा के पालन की अपे{ाा करते है, किन्तु वे गृहस्थों से अपेक्षा करते हैं कि वे जान–बूझकर 'जीव' हिंसा' से विरत रहें।

3.5.2 सत्य

'सत्य' का अर्थ, असत्य वचन का परित्याग। सत्यवादिता का अर्थ है, हितकारी एवं प्रिय सत्य वचन का पालन (सुनत)। इस प्रकार जैन दार्शनिक असत्य कटु वचान का पालन भी अनुचित मानते हैं, क्योंकि उससे भी दूसरों को कष्ट पहुँचता है। इस व्रत का पालन करने के लिए मनुष्य को भय, लोभ एवं पर निन्दा से दूर रहना चाहिए।

3.5.3 अस्तेय

जैन दर्शन में चौर्य प्रवृत्ति का निरोध ही 'अस्तेय' है। जैन दर्शन के अनुसार बिना दिये पर द्रव्य का ग्रहण नहीं करना चाहिए। जैन दर्शन व्यक्ति के जीवन की भॉति उसकी सम्पत्ति को भी अत्यन्त पवित्र मानता है। वे इस व्यक्तिा का बाह्य जीवन कहते हैं। इस प्रकार वे पर द्रव्य ग्रहण को भी जीव हिंसा ही मानते हैं। अतः वे मुमुक्षु से यह अपेक्षा की जाती है कि वे पर द्रव्य को ग्रहण न करें।

3.5.4 ब्रह्मचर्य

जैन दर्शन वासनाओं के परित्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह केवल इन्द्रिय सुख का परित्याग ही नहीं है, अपितु सभी कामनाओं का परित्याग है। तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार की मानसिक एवं बाह्य, सूक्ष्म एवं स्थूल, लौकिक एवं पारलौकिक कामनाओं का परित्याग करना चाहिए। इसमें गृहस्थ से एक पत्नीव्रत एवं संयम की अपेक्षा की गयी है।

3.5.5 अपरिग्रह

विषयासक्ति का परित्याग अपरिग्रह है। जैन दर्शन के अनुसार मुमुक्ष को शब्द, स्पर्श, रुप, रस और गन्ध इन विषयों का परित्याग करना चाहिए। जैन सन्यासी से पूर्ण अपरिग्रह की अपेक्षा की गयी है। वह किसी भी वस्तु को, भिक्षा पात्र को भी अपना नहीं कह सकता। जैन दर्शन में गृहस्थों से केवल सन्तोष की अपेक्षा की गयी है।

जैन दर्शन में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र ये त्रिरत्न साथ–साथ रहते है और तीनों सम्मिलित रुप में मोक्ष मार्ग माने गये हैं। जैन दर्शन के 'त्रिरत्न' में प्रत्येक पूर्ववर्ती कड़ी अपने परवर्ती कड़ी के लिए आवश्यक है। जैन दर्शन में सम्यक दर्शन से ही दृढ़ आस्था का प्रादुर्भाव होता है, जिससे ज्ञान और चरित्र प्राप्त होते हैं तथा ज्ञान से चरित्र और चरित्र से ज्ञान पुष्ट होता है। ज्ञान से अविद्या दूर होती है, चरित्र से कर्म मल हटाया जाता है। ये तीनों एक साथ काम करते है और साधना को आलोकित करके सिद्धि तक पहुँचातें हैं।

जैन दर्शन में मुमुक्षु के मोक्ष तक पहुँचाने के साधना पथ के कई सोपान हैं; जैन दर्शन में इन्हें 'गुणस्थान' कहा गया है। ये संख्या में चौदह है। ये गुणस्थान इस प्रकार हैं– मिथ्यादृष्टि, सास्वादन, सम्यक् मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यक्दृष्टि, देश विरत सम्यग्दृष्टि, प्रमत्त–संयत, अप्रमत–संयत, अपूर्वकरण,

अनिवृत्ति–बादर–सम्पराय, सूक्ष्म सम्पराय, उपशांत कशाय, क्षीण कषाय, संयोग केवलिन गुण स्थान एवं अयोगकेवलिन गुण स्थान। इन चौदह सोपानों में क्रम से चलने पर उत्तरोत्तर मोक्ष की ओर साधक उन्मुख होता जाता है। इन गुणस्थानों में तेरहवें सोपान को 'संयोग केवलिन' और अन्तिम चौदहवें गुण स्थान को 'अयोग केवलिन्' कहा गया है। 'संयोग' केवेली' (जीवन्मुक्ति सदृश) आवरणीय कर्मो का क्षय से अपने शुद्ध स्वरुप में प्रकाशित होकर अनन्त ज्ञान एवं अनन्त सुख सम्पन्न होता है। तीर्थंकर एवं सिद्ध पुरुष अपने जीवन काल में 'संयोग केवली' थे। यह 'जीवन्मुक्ति' की स्थिति है। अन्तिम स्थिति 'अयोग केवली' की है, जिसमें देहपात होने पर मुक्त पुरुष ऊपर उठने लगता है और लोकापाश के ऊपर 'सिद्धशिला' नामक पवित्र स्थान पर आत्म स्वरुप में स्थित होकर 'अनन्तचतुष्ट्य' का अनुभव करता है।

3.6 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रुप में कहा जा सकता है कि जैन दर्शन के आचारशास्त्र के अन्तर्गत बन्धन एवं मोक्ष का जो वर्णन हुआ है, वह व्यावहारिक उपदेश के रुप में बहुत ही उपादेय है। यद्यपि जैन दर्शन के आचारशास्त्र में साधक को जिस प्रकार के आचरण का उपदेश दिया गया है, वह अत्यन्त कठोर है और अपनी कठोरता के कारण यह सामान्यजन का धर्म नहीं बन सकता। जैन दर्शन में जैन साधुओं के लिए बतायी गयी साधना तो अत्यन्त कठोर है ही, गृहस्थों के लिए निर्धारित की गयी साधना भी कुछ कम कठोर नहीं है। यह अपनी कठोरता के कारण जैन धर्म कुछ थोड़े से ही साधकों का ही धर्म बनकर रह गया। वास्तविकता यह है कि जैन दर्शन द्वारा 'महाव्रत' और 'अणुव्रत' के लिए रुप में आचार पद्धति का जो विभाजन किया गया है, वह कृत्रिम सा जान पड़ता है। यदि महाव्रत के पालन से मोक्ष मिलता है, तो अणुव्रत के पालन से मोक्ष संभव नहीं है। पुनः यदि अणुव्रत के पालन से मोक्ष की प्राप्ति संभव है, तो कोई भी मोक्ष की प्राप्ति के लिए 'महाव्रत' का पालन क्यों करेगा? ऐसा प्रतीत होता है कि जैन दर्शन का 'महाव्रत' एवं अणुव्रत के रुप में किया गया विभाजन कृत्रिम इसलिए लगता है क्योंकि जैन धर्म अपने को जन सामान्य में लोकप्रिय बनाने के लिए ही इस प्रकार का विभाजन किया है। इन सबके बावजूद भी जैन दर्शन क्षरा अपने आचारशास्त्र में ज्ञान के अनुरुप आचरण पर बल देना प्रशंसनीय कहा जा सकता है।

3.7 सारांश

जैन दर्शन भी अन्य भारतीय दर्शन की भांति 'बन्धन एवं मोक्ष' की अवधारणा को केन्द्रीय महत्व प्रदान करता है। जैन दर्शन में जीव को स्वभावतः शुद्ध, पूर्ण, सर्वज्ञ एवं केवलज्ञान से युक्त माना गया है। जैन दर्शन में जीव 'चतुष्ट्य' से युक्त है, इसलिए स्वभावतः जीव पूर्ण एवं मुक्त है। जैन दर्शन में कर्म पुद्गलां का जीव को जकड़ लेना बन्धन है और जीव का कर्म पुद्गलों से सर्वथा छूट जाना मोक्ष है। जैन दर्शन में जीव बन्धन का हेतु आस्रव है और आस्रव के निरोध होने पर निर्जरा की प्रक्रिया आरम्भ होती है। 'निर्जरा' की अवस्था जीव में पहले से विद्यमान प्राचीन कर्म पुद्गलों के क्षय की अवस्था है। इस प्रकार जैन दर्शन में कर्म का आत्यान्तिक क्षय ही सर्वज्ञता या मोक्ष है। जैन दर्शन जीव का मार्ग के अनुसरण का उपदेश दिया गया है। 'सम्यक् दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्ष मार्गः' अर्थात सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक चरित्र का आचरण में पालन करने से

'मोक्ष' की प्राप्ति संभव होती है। जैन दर्शन में मोक्ष के मार्ग को जैन साधुओं के लिए महाव्रत और गृहस्थों के लिए अणुव्रत के पालन को उपदेश दिया गया है।

3.8 बोध प्रश्न

जैन दर्शन के बन्धन एवं मोक्ष की अवधारणा का विवेचन कीजिए?

3.9 बोध प्रश्न के उत्तर

जैन दर्शन में जीव स्वभावतः पूर्ा है। जीव में अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान अनन्त वीर्य एवं जगत जिसे 'अनन्त चतुष्ट्य' कहा जाता है। परन्तु कर्मफल से सम्पृक्त होने के कारण सांसारिक जीवों में अनन्त चतुष्ट्य ये लक्षण तिरोहित हो जाते हैं और जीव बन्धनग्रस्त हो जाता है। जैन दर्शन में जीव का कर्म पुद्गलों से संयोग ही बन्धन है। जैन दर्शन में आठ प्रकार के कर्म स्वीकार किये जाते हैं– ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयुष्य, नाम गोत्र एवं अन्तराय। जीव स्वभावतः मुक्त है; किन्तु अनादि अविद्या या वासना के कारण कर्म बन्धन में फँस जाता है।

जैन दर्शन में बन्धन के पाँच कारण बताये गये हैं– मिथ्यात्व (सदसदविवेक), अविरति (वैराग्य का अभाव अर्थात रागादि), प्रमाद, कषाय (क्रोध, लोभ, मान एवं माया) और योग (मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रिया)। जीव बन्धन के ये पाँच कारण ही जीव को कर्म पुद्गलों से संयुक्त कर देता है और जब इन कर्म पुद्गलों से जीव का वियोग हो जाता है; तो वह मोक्ष की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

जैन दर्शन में कर्म पुद्गलों का जीव की ओर प्रवाह जीव को बन्धन ग्रस्त करना है। जैन दर्शन में कर्म पुद्गलों का जीव की ओर प्रवाह को 'आस्रव' कहा जाता है। आस्रव दो प्रकार का माना गया है– भावास्रव एवं द्रव्यास्रव। जीव में कर्म को उत्पन्न करने वाले रागादि भावों का उद्भव एवं मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया का संकल्प भावास्रव है तथा कर्म पुद्गलों का जीव की ओर प्रवाहित होना द्रव्यास्रव है।

जैन दर्शन में बन्धन भी दो प्रकार का माना गया है। भाव–बन्ध एवं द्रव्य–बन्ध। कषाय एवं कर्म का उदय भाव बन्ध है तथा कर्म पुद्गलों का जीव में प्रविष्ट होकर उसे बाँध लेना द्रव्य–बन्ध है।

जैन दर्शन में जीव का कर्म पुद्गलों से असम्पृक्त हो जाना ही मोक्ष है। यह तभी संभव है जब नये कर्म पुद्गलों का जीव की आस्रव निरुद्ध हो जाए। जैन दर्शन में इस अवस्था को 'संवर' कहते हैं। परन्तु मोक्ष के लिए 'संवर' ही पर्याप्त नहीं है। बल्कि 'निर्जरा' की अवस्था को प्राप्त करना आवश्यक है। 'निर्जरा' की अवस्था में जीव विद्यमान पुराने कर्म पुद्गलों को 'सम्यक दर्शन ज्ञानचरित्राणि' से सर्वथा नष्ट कर देना है। जब कर्म पुद्गल का जीव में आत्यान्तिक क्षय हो जाता है। तब जीव अपने सहज सर्वज्ञ एवं पूर्ण रुप में प्रकाशित होता है; यही मोक्ष है, यही केवल ज्ञान की प्राप्ति है। जैन दर्शन के अनुसार जीव मुक्त हो जाने के बाद ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है तथा वह 'सिद्धशिला' पर पहुँचता है और वहाँ अनन्त काल तक वास करता है। जैन दर्शन में मोक्ष केवल दुःख की आत्यान्तिक निवृत्ति

ही नहीं है; अपितु जीव को अपनी स्वाभाविक पूर्णता का बोध भी होता है। इस प्रकार जैन दर्शन मे मोक्ष एक भावात्मक अवस्था है।

जैन दर्शन में 'सम्यक्दर्शन ज्ञानचरित्राणिमाक्षः मार्गः' क्षरा सम्यक् दर्शन अर्थात श्रद्धा सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र को मोक्ष प्राप्ति साधन बताया गया है। जैन शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं तत्वों के प्रति और जैन तीर्थंकरों के उपदेशों के प्रति दृढ़ विश्वास का होना ही सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन का उदय दर्शनावरणीय कर्मों के विनाश से होता है। और इसमें सभी प्रकार के संशय का निवारण हो जाता है। ज्ञानावरणीय कर्मो के विनाश से सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है। सम्यक् ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर मोक्ष प्राप्ति की अग्रसर जीव जैन सिद्धान्तों एवं तत्वों का गहन चिन्तन एवं मनन करता है। सम्यक् ज्ञान को अपने चरित्र में चरितार्थ करना सम्यक् चरित्र है। जैन दर्शन में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र को 'त्रिरत्न' कहा गया है। जैन दर्शन के ये 'त्रिरत्न' साथ–साथ रहते हैं, तीनों कए साथ कार्य करते हैं और साधना पथ को आलोकित कर तीनों सम्मिलित रुप में मोक्ष तक पहुँचाते हैं।

सम्यक् चरित्र के लिए जैन दर्शन में पंचमहाव्रत का पालन आवश्यक है। ये पंचमहाव्रत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं। मुनियों के लिए इन व्रतों का अत्यन्त कठोरता से पालन करने का विधान है। अतः मुनियों के लिए ये महाव्रत कहे जाते हैं। गृहस्थों के लिए परिस्थिति के अनुकूल इनको उदार बना दिया गया है और इन्हें अणुव्रत की संज्ञा दी गयी है।

मुमुक्षु के मोक्ष तक पहुँचने के साधना पथ के कई सोपान हैं; जैन दर्शन में इन्हें गुण–स्थान कहा गया है। गुण स्थान संख्या में चौदह है और ये मुमुक्षु को लोकाकाश के ऊपर 'सिद्धशिला' नामक पवित्र स्थान पर आत्मस्वरुप में स्थित होकर अनन्त चतुष्ट्य का अनुभव करने के लिए आधार प्रदान करते हैं।

इस प्रकार जैन दर्शन की आचारमीमांसा में जो बन्धन एवं मोक्ष की अवस्था और उसकी प्राप्ति के साधन बताये गये हैं वे इतने कठोर हैं कि नियमानुसार उसका पालन कुछ विरले ही व्यक्ति कर सकते हैं। जैन धर्म के ये कठोर व्रत उसकी अव्यावहारिकता के द्योतक हैं। अपनी कठोरता के कारण जैन आचारमीमांसा कुछ यतियों एवं मुनियों के लिए उपर्युक्त हो सकती है; सामान्य मनुष्यों के द्वारा अपने आचारमीमांसा की प्रमुख विशिष्टता मोक्ष को भावात्मक रुप में स्वीकार करना है।

3.10 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन– डॉ0 नन्द किशोर देवराज
2. भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन– चन्द्रधर शर्मा
3. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण– प्रो0 संगम लाल पाण्डेय

****

MAPH-101
भारतीय दर्शन का परिचय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 4

भारतीय दर्शन

इकाई – 1 107–122

बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय

इकाई – 2 123–132

प्रतीत्यसमुत्पाद

इकाई – 3 133–142

क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद

इकाई – 4 143–152

निर्वाण और बोद्धिसत्व का सिद्धान्त

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.–101(MAPH-101)

सरंक्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह – कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

डॉ.आर.पी.एस. यादव	–	निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.)	–	दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो.दीप नारायण यादव	–	दर्शनशास्त्र विभाग, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. द्वारिका	–	विभागाध्यक्ष, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. सभाजीत यादव	–	दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

लेखक

प्रो. सुरेन्द्र वर्मा	–	सेवानिवृत्त, 10 एचआईजी/1 सर्कुलर रोड, प्रयागराज।
डॉ. श्यामकान्त	–	असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला0 वि.वि. प्रयागराज।
डॉ. अतुल कुमार मिश्र	–	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

सम्पादक

प्रो. जटाशंकर	–	पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

परिमापक

प्रो. आर.पी.एस. यादव	–	निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

समन्वयक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र	–	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

2023 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि अण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ें आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 211021

प्रकाशक – कुलसचिव, विनय कुमार, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज –2023

मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी, मथुरा – 281003.

इकाई–1

बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय

<u>इकाई की रुपरेखा</u>

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 बौद्ध दर्शन का वैभाषिक सम्प्रदाय

- 1.2.1 वैभाषिक सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषताएं
- 1.2.2 बाह्य सत्ता के प्रत्याक्षाभूति के विरुद्ध सौतांत्रिकों की आपत्ति
- 1.2.3 वैभाषिकों द्वारा बाह्य प्रत्यक्षवाद का प्रतिपादन
- 1.2.4 सविकल्प एवं निर्विकल्प प्रत्यक्ष
- 1.2.5 स्वलक्षणों की अनन्त्ता और उनका प्रचार
- 1.2.6 वैभाषिक सम्प्रदाय की तत्वमीमांसा–विषयिगत दृष्टि से तत्व की व्याख्या
- 1.2.7 विषयगत दृष्टि से तत्व की व्याख्या
- 1.2.8 वैभाषिक सम्प्रदाय के मूलनिहितार्थ

1.3 सौतांत्रिक सम्प्रदाय

- 1.3.1 सौतांत्रिक सम्प्रदाय के मूल निहितार्थ
- 1.3.2 सौतांत्रिक सम्प्रदाय के अनुसार ज्ञान के चार कार.ा
- 1.3.3 सौतांत्रिक का बाह्य नुमेयवाद
- 1.4 योगाचार या विज्ञानवाद
- 1.4.1 विज्ञानवाद से तात्पर्य
- 1.4.2 विज्ञानवाद की सिद्धि के लिए तर्क
- 1.4.3 विज्ञानवाद के भेद
- 1.4.4 आलय विज्ञान

1.5 माध्यमिक या शून्यवाद

1.5.1 शून्यवाद से तात्पर्य

1.5.2 माध्यमिक सम्प्रदाय के अनुसार तत्व

1.6 सारांश

1.7 बोध प्रश्न

1.8 उपयोगी पुस्तकें

1.0 उद्देश्य

गौतम बुद्ध ने चार आर्य सत्यों के अनुशीलन को ही व्यक्ति के लिए सार्थक एवं उपयोगी माना है। कालान्तर में मूल बौद्ध धर्म के दो सम्प्रदाय हो गये; जिनमें थेरवाद एवं स्थिरवाद हीनयान कहलाया तथा दूसरा मत महायान कहलाया; जिसमें बौद्ध धर्म की कठोरताओं को शिथिल करते हुए बोधिसत्व की अवधारणा को मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य घोषित किया गया। बौद्ध दर्शन के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि पारस्परिक विवादों के कारण बौद्ध दर्शन के कुल अठ्ारह सम्प्रदाय हो गये थे; किन्तु इनमें से केवल चार सम्प्रदाय व्यवस्थित रुप में प्रचलित हुए। इन चार सम्प्रदायों में सौतांत्रिक एवं वैभाषिक हीनयान शाखा से सम्बिन्धित है। और वैभाषिक योगाचार या विज्ञानवाद एवं माध्यमिक या शून्यवाद महायान शाखा से सम्बन्धित हैं। वैभाषिक एवं सौतांत्रिक सम्प्रदायों की गणना सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में की जाती है। सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का मूलमंत्र 'सर्वमस्ति' है। इनमें विज्ञान (आन्तरिक जगत) एवं विज्ञानेत्तर (बाह्य जगत) दोनों प्रकार की सत्ताओं में विश्वास किया जाता है।

1.1 प्रस्तावना

बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध हैं; जिनका प्रारम्भिक नाम सिद्धार्थ था। गौतम बुद्ध ने स्वंय कोई दार्शनिक ग्रन्थ नहीं लिखा। उनके दार्शनिक चिन्तन के विषय में जानकारी तीन प्राचनी ग्रन्थों; सुत्त पिटक, विनय पिटक एवं अभिधम्म पिटक से प्राप्त होती है। इन तीनों ग्रन्थों को 'त्रिपिटक' भी कहा जाता है। अभिधम्म पिटक को बुद्ध के उपदेशों का मौलिक ग्रन्थ माना जाता है। त्रिपिटक के अतिरिक्त 'मिलिन्दपन्हों' को बौद्ध दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है।

महात्मा बुद्ध दर्शन के तत्वमीमांसीय प्रश्नों को 'अत्याकृतानि प्रश्नानि' कहकर मौन धारण कर लिया करते थे। उनका एक मात्र लक्ष्य मानवमात्र को दुःखों से निवृत्ति दिलाना था। यही कारण था कि उन्होंने अपने उपदेशों में जीवन के व्यवहारिक पक्ष पर बल देते हुए संसार के दुःखमय स्वरुप और उससे निवृत्ति को महत्ता प्रदान किया। गौतम बुद्ध ने अपनी शिक्षाओं के सारांश को चार आर्य सत्य (Fourth Noble Truth) के रुप में व्यक्त किया है। बौद्ध दर्शन के चार आर्य सत्य निम्नलिखित हैं–

1. संसार में दुःख है। (There is Suffering)
2. दुःखों का कारण है। (There is Cause of Suffering)
3. दुःखों का निरोध संभव है। (There is Cessation)
4. दुःखों के निरोध का मार्ग है। (There is a Path of Cessation of Suffering)

महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् अनेक शताब्दी तक उनके उपदेश मौखिक रुप से प्रचलित थे और उनके उपदेशों को लिखित रुप में संकलित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। कालान्तर महात्मा बुद्ध के उपदेशों को लेकर उनके अनुयायियों मतभेद दिखायी देने लगा। इस मतभेद को दूर करने के लिए बौद्ध मत के अनुयायियों ने वैशाली में एक सम्मेलन किया, किन्तु इसमें बौद्ध मत के अनुयायियों के बीच उत्पन्न वैचाकिर मतभेद समाप्त नहीं हुआ। प्राचीन बौद्धों (स्थिरवादियों) से मतभेद होने के कारण कुछ बौद्ध मतावलम्बियों ने अलग से एक महा सम्मेलन किया और अपने विचारधारा को मानने वालों को 'महासंगिक' कहा और बाद में चलकर यही 'महायान' नाम से प्रचलित हुआ। प्राचीन बौद्ध जो 'स्थिरवादी' थे, उन्होंने बौद्ध के उपदेशों को पालि भाषा में लिपिबद्ध किया और इस विचारधारा के अनुयायी एवं समर्थक 'हीनयान' के नाम से जाने जाते हैं। बौद्ध ग्रन्थों से यह विदित होता है कि 'वैशाली' का सम्मेलन आयोजित करने वाले थेरा व स्थविर बौद्धों ने ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में अनेक सम्प्रदायों का विकास किया, किन्तु इनकी प्रमुख विचारधारा सर्वास्तिवादी ही रही। बौद्ध ग्रन्थ 'कथावत्थु' से यह ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म में नाना मत एवं सम्प्रदाय का विकास हुआ, किन्तु इस विचारधारा के अनुयायियों की दो ही शाखा प्रमुख है– हीनयान और महायान। महायान शाखा के अनुयायियों ने महात्मा बुद्ध के उपदेशों को संस्कृत भाषा में प्रचारित किया तथा संस्कृत भाषा में ही गौतम बुद्ध के दर्शन की व्याख्या की। प्रायः हीनयान से तात्पर्य छोटा वाहन या निम्न मार्ग तथा महायान से तात्पर्य है– बड़ा वाहन या बड़ा मार्ग। बौद्ध दर्शन के जो चार सम्प्रदाय प्रचलित हुए हैं, उनमें वैभाषिक एवं सौतांत्रिक सम्प्रदाय बौद्ध दर्शन के हीनयान शाखा से सम्बन्धित हैं और ये सर्वास्विादी हैं तथा शून्यवादी एवं योगाचारवादी बौद्ध दर्शन के महायान शाखा से सम्बन्धित हैं।

1.2 बौद्ध दर्शन का वैभाषिक सम्प्रदाय

वैभाषिक सम्प्रदाय बौद्ध दर्शन के हीनयान शाखा से सम्बन्धित है। हीनयान शाखा के बौद्ध दर्शन के अनुयायियों एवं समर्थकों ने सर्वास्तिवाद को स्वीकार करते हैं। वैभाषिक भी हीनयान शाखा से सम्बन्धित होने के कारण सर्वास्विादी है। वैभाषिक बाह्य जगत की सत्ता को मन से स्वतंत्र सत्ता के रुप में स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से वैभाषिक को वस्तुवादी भी कहा जाता है। 'वैभाषिक सम्प्रदाय' के नामकरण को लेकर यह विचार मिलता है कि 'अभिधर्म की विभाषा' अथवा भाष्य के अनुसरण के द्वारा 'वैभाषिक सम्प्रदाय' का गठन हुआ। वैभाषिक सम्प्रदाय के नामकरण के विषय में सर्वदर्शन संग्रह में कहा गया है कि– ''वैभाषिकों का पुराना नाम सर्वास्तिवादी है, क्योंकि वे सभी वस्तुओं की मन से स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करते हैं'' कनिष्क के काल में कश्मीर में बौद्धों की चतुर्थ संगीत हुई, जिसमें वैभाषिक सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थ का आर्य कात्यायनी पुत्र के द्वारा रचित 'ज्ञान प्रस्थानशास्त्र' पर एक विराट टीका बनीं, जो ''विभाषा'' कहलायी। इसी ग्रन्थ को इस विचारधारा के अनुयायियों के द्वारा अधिक मान्य मानने के कारण ही इस सम्प्रदाया का नाम वैभाषिक पड़ा। यशोमित्र ने स्फुटार्था में लिखा है कि– ''विभाषया दिव्यन्ति चरन्ति वै वैभाषिकाः' तथा विभाषां वा वदन्ति वैभाषिकाः।

वैभाषिक सम्प्रदाय का मूल आधार 'अभिधम्म पिटक' है; जिसे बुद्ध वचन भी कहा जाता है। वैभाषिक सम्प्रदाय की विचारधारा के प्रमुख अवधारणात्मक रुप सात ग्रन्थों में संकलित मिलते हैं। इनमें कात्यायनी पुत्र रचित 'अभिधर्म ज्ञान प्रस्थान' प्रमुख ग्रन्थ है। 'अभिधर्मज्ञान प्रस्थान' पर वसुमित्र कृत 'महाविभाषा' या 'विभाषा'

नामक भाष्य है। इस भाष्य को इतनी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई कि इसके अनुयायी वैभाषिक कहे जाने लगे। महाविभाषा का संक्षिप्त रुप बसुबन्धु कृत 'अभिधर्मकोश' है। इसके अतिरिक्त यशोमित्र कृत 'स्फुटार्था' संघभद्र कृत 'न्यायानुसारशास्त्र' एवं धर्मकीर्ति द्वार विचरित 'न्यायबिन्दु' वैभाषिक सम्प्रदाय के उल्लेखनीय ग्रन्थों में सम्मिलित हैं।

वैभाषिक सम्प्रदाय प्रत्यक्ष ज्ञान की संभावना के लिए बाह्य जगत की सत्ता को स्वीकार करता है। वैभाषिक सम्प्रदाय की यह मान्यता है कि बाह्य जगत का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। यदि बाह्य जगत के अस्तित्व को अस्वीकार किया जाय तो प्रत्यक्ष ज्ञान असंभव होगा और प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान भी असंभव होगा। अनुमान का आधार व्याप्तिवाक्य है। प्रत्यक्ष ज्ञान से प्राप्त सामग्री के अभाव में व्याप्तिवाक्य स्थापित नहीं हो सकता। वैभाषिक सम्प्रदाय का कहना है कि हमारा अनुभव इस बात का प्रमाण है कि जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं; वह प्रत्यक्ष के समय विद्यमान रहती है। वैभाषिक की दृष्टि में वस्तु का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है इसलिए वैभाषिक का यह मत 'बाह्य प्रत्यक्षवाद' कहलाता है।

सौतांत्रिक सम्प्रदाय के अनुसार वैभाषिक का बाह्य प्रत्यक्षवाद क्षणिकवाद सिद्धान्त से असंगत है। यदि बाह्य प्रत्यक्षवाद को तर्कसंगत माना जाय; तो वस्तु को कम से कम दो क्षणों तक अस्तित्ववान मानना पड़ेगा; एक वह क्षण जिसमें वस्तु का इन्द्रिय सन्निकर्ष होगा, दूसरा वह क्षण जिसमें वस्तुतः उसका प्रत्यक्ष होगा। यह स्थिति बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद के प्रतिफल होगी। अतएव सौतांत्रिक सम्प्रदाय का यह मानना है कि वैभाषिक सम्प्रदाय का बाह्य प्रत्यक्षवाद बौद्ध दर्शन की मूल भावना के प्रतिकूल है।

वैभाषिक सम्प्रदाय के विरुद्ध यह आरोप लगाया जाता है कि वैभाषिक की तत्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा एक व्यर्थ प्रपंचवाद का पोषण करती है। इसलिए वैभाषिक द्वारा बाह्य जगत् के ज्ञेय होने का दावा ही निरर्थ है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वैभाषिक सम्प्रदाय के दोष का परिहार करने के लिए सौतांत्रिक सम्प्रदाय बाह्यनुमेयवाद का प्रतिपादन किया, किन्तु आचार्य शंकर का कहना है कि 'नासतों विद्यतेऽदृष्टत्वात्' अर्थात अभाव से भाव की उत्पत्ति असंभव है।

1.2.1 वैभाषिक सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषताएं

वैभाषिक सम्प्रदाय बाह्य प्रत्य{ावादी है। यह बाह्य वस्तु की मन से स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करता है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में कहा गया है कि वैभाषिक बाह्य वस्तुओं को अनुमेय न मानकर पूर्णतया प्रत्यक्षगम्य मानते हैं; क्योंकि जब तक बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होगा, उसकी सत्ता किसी दूसरे साधन से सिद्ध नहीं हो सकती है। वैभाषिकों के अनुसार किसी भी अर्थ की प्राप्ति के लिए उसका सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है। सम्यग्ज्ञान के बिना अर्थोपलब्धि नहीं हो सकती और बिना किसी अर्थ को दृष्टिगत किये ज्ञान का ही कोई महत्व नहीं है। वाछंनीय अर्थ की प्राप्ति में उस अर्थ के सम्यग्ज्ञान की अपे{ाा होती है और तदनुसार ज्ञान की परिभाषा यह है कि वह किसी नवीन अर्थ को प्रकाशित करे। वैभाषिकों का यह मानना है कि जो ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होकर अर्थ साक्षात्कार कराता हैं, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। वैभाषिक अर्थ की साक्षात् उपलब्धि को प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं। वैभाषिक प्रत्यक्ष के निम्नलिखित चार भेद मानते हैं–

(i) इन्द्रिय ज्ञान– यह इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान है।

(ii) मनोविज्ञान– मनोजन्य ज्ञान को मनोविज्ञान कहते हैं। ज्ञान सन्तान में इन्द्रिय ज्ञान के अनन्तर मनोविज्ञान की स्थिति मानी गयी है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मनोविज्ञान कोई भिन्न प्रकार का प्रत्यक्ष है। मनोविज्ञान का विषय वास्तव में इन्द्रिय ज्ञान का ही विषय होता है, अन्तर केवल इतना है कि मनोविज्ञान में मनुष्य को आभ्यन्तर सत्ता का प्रत्यक्ष होता है और इन्द्रिय ज्ञान से उसे बाह्य सत्ता की भी उपलब्धि होती है। वास्तविकता यह है कि वैभाषिक सम्प्रदाय का यह मानना है कि ज्ञान की प्रक्रिया में मनोविज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय ज्ञान के समाप्त होने वाले क्षण से दूसरे क्षण में होती है। धर्मकीर्ति के अनुसार बर्हिर्विषयक इन्द्रियों और आभ्यन्तर विषयक मन इन दोनों की क्रिया का एक साथ होना संभव नहीं है।

(iii) स्वसंवेदन– वैभाषिक सम्प्रदाय का मानना है कि बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा होता है, किन्तु चित्त एवं चैतासिक धर्मो (उदाहरणार्थ सुख–दु:खादि) का ज्ञान किसी अन्य कारण पर आधारित नहीं। चैतसिक धर्मो की साक्षात् वेदना स्वतः ही होती है। अतएव वे स्वविदित माने गये हैं, क्योंकि चैतासिक धर्मो की यह वेदना साक्षात् है, परम्परा नहीं। अतएव इसे भी वैभाषिकों ने एक प्रकार का प्रत्यक्ष माना है, जिसको वे स्वसंवेदन कहते हैं।

(iv) योगि–प्रत्यक्ष– योगियों के जगत सत्ता विषयक साक्षात् अनुभूति को योगि प्रत्यक्ष कहते हैं। साक्षात् एवं अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण योगियों के इस ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है।

1.2.2 बाह्य सत्ता के प्रत्यक्षानुभूति के विरुद्ध सौतांत्रिकों की आपत्ति

वैभाषिकों द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण की मान्यता बौद्ध धर्म की एक ऐसी विशेषता है, जिसमें अन्य निकाय सहमत नही है। अनुमान हो प्रामाण्य स्वीकार करने में तो प्रायः किसी को कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष को प्रमाण रुप मानते हुए प्रत्यक्ष के विषय रुप बाह्य वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करना वैभाषिकों के अतिरिक्त किसी अन्य निकाय को युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। यद्यपि सौतांत्रिक निकाय में भी बाह्य वस्तु की सत्ता स्वीकार की गयी है, तथापि वे उसे अनुमेय सत् के रुप में मानते हैं, क्योंकि उनकी धारणा है कि बाह्य सत्ता की प्रत्यक्ष द्वारा साक्षात् अनुभूति मानने पर क्षणभंगवाद में व्याघात् होगा। क्षंणभंगवाद के अनुसार किसी भी वस्तु का अस्तित्व एक क्षण से अधिक नही रह सकता। परन्तु यदि बाह्य सत्ता की प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्धि प्रामाणिक मानी जाय तो उस सत्ता को कम से कम दो क्षणों तक अवश्य स्थिर रहना पड़ेगा, एक क्षण में बाह्य वस्तु का इन्द्रिय से सन्निकर्ष होगा और दूसरे क्षण में उसका प्रत्यक्ष होगा। अतएव यदि क्षणभंगवाद का सिद्धान्त युक्ति संगत है, तो मानना पड़ेगा कि बाह्य सत्ता इन्द्रिय को प्रेरित करके नष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में बाह्य सत्ता का ज्ञान किस प्रकार का होता है? सौतांत्रिक के अनुसार इस ज्ञान की प्रक्रिया है– बाहृय सत्ता के नष्ट होने पर चित्त में उसके आकार की उत्पत्ति होती है और उसको हेतु रुप में मानकर हम बाह्य सत्ता का अनुमान करते हैं। अतएव बाह्य वस्तु का ज्ञान परम्परया होता है, साक्षात् नहीं।

1.2.3 वैभाषिकों द्वारा बाह्य प्रत्यक्षवाद का प्रतिपादन

बौद्ध दर्शन के वैभाषिक सम्प्रदाय बाह्य वस्तुओं के ज्ञान के विषय में सौतांत्रिकों के विचारों से सहमत नहीं है। वैभाषिकों का कहना है कि जब हम किसी वस्तु का ज्ञान साक्षात् प्राप्त कर सकतें हैं तब उसका चित्त आकर के माध्यम से अनुमान करना युक्ति का गौरव मात्र है। वस्तु को अनुमेय मानने के विरुद्ध सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि यह सिद्धान्त उस अनुभव के विरुद्ध है, जिसके आधार पर हम विश्वास करते हैं कि प्रत्यक्ष में बाह्य वस्तु का ही ज्ञान होता है, तदाकार का नहीं। इसके अतिरिक्त यदि प्रत्यक्ष का प्रामाण्य युक्तिसंगत नहीं है, तो अनुमान के भी अप्रामाण्य का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा, क्योंकि अनुमान की भी सिद्धी प्रत्यक्षजन्य अनुभव पर ही निर्भर होती है। अतएव वैभाषिक के अनुसार बाह्य सत्ता के अस्तित्व को प्रत्यक्ष गोचर मानना ही युक्तिसंगत है। इसीलिए वैभाषिक सम्प्रदाय को बाह्य प्रत्यक्षवाद कहा जाता है।

1.2.4 सविकल्प एवं निर्विकल्प प्रत्यक्ष

वैभाषिक निकाय के दार्शनिकों के समान यह विचार व्यक्त किया है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष को जिसमें वस्तु का ज्ञान उसके विशेषणों के साथ होता है, विशुद्ध नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसमें विशेषणों की कल्पना मानसिक क्रिया पर आश्रित होती है। उदाहरण के लिए, 'यह रक्त है', यह एक सविकल्पक प्रत्यक्ष है, जिसमे 'यह' निर्दिष्ट पदार्थ में 'रक्त' का आरोप किया जाता है। परन्तु वास्तव में प्रत्यक्ष केवल 'रक्त' का ही होता है। वैभाषिकों की ज्ञान की प्रक्रिया के अनुसार सर्वप्रथम किसी भी वस्तु की संवदेना मात्र होती है। और तत्पश्चात्–मानसिक क्रिया के कारण उसमें अन्य गुणों का आरोप किया जाता है। प्रथम क्षण में वस्तु की संवेदना मात्र को निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं और जब यह संवेदना मानसिक क्रिया के कारण एक निश्चित आकार प्राप्त करके गुण–गुणी, अवयव–अवयवी आदि रुपों में अभिव्यक्ति होती है तब उसकों सविकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं। वैभाषिकों के मत में मानसिक क्रिया मिश्रित न होने के कारण, निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही शुद्ध प्रत्यक्ष है और तद्नुसार केवल इसी प्रत्यक्ष के विषय की सत्ता वैभाषिक सम्प्रदाय में स्वीकार की गयी है। इस सत्ता को वैभाषिक सम्प्रदाय में स्वीकार की गयी है। इस सत्ता को वैभाषिक 'स्वलक्षण' कहते हैं। 'स्वलक्षण' अंसख्य हैं। इनकी अपनी अन्य निरपेक्ष एक विशेष सत्ता होती है, जो किसी अन्य सत्ता से स्वसमन्वय के लिए अवलम्बित नहीं होती है। इन स्वलक्षणों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के ज्ञानों को (जो व्यक्ति की मानसिक क्रिया पर आधारित होते हैं तथा सविकल्प प्रत्यक्ष के विषय हैं, जैसे नीलत्व, मनुष्य आदि) सामान्य लक्षण कहा जाता है। सौत्रांतिक नय के समान वैभाषिक मत में भी स्वलक्षण को ही एक मात्र सत्–माना गया है। स्वलक्षण प्रत्यक्ष के विषय हैं। स्वलक्षण के विपरीत सामान्य लक्षण अनुमान के विषय हैं।

1.2.5 स्वलक्षणों की अनन्तता और उनका प्रचार

वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुसार चूँकि निर्विकल्प प्रत्यक्ष बहुसंख्यक हैं, अतएव स्वलक्षणों की संख्या भी अनन्त है। ज्ञान सत्ता के विषय रुप होने के कारण इन स्वलक्षणों में भी पूर्वापर क्रम की अपेक्षा होती है, जिसे वैभाषिक एक प्रकार का प्रवाह मानते हैं। उनके अनुसार कोई भी स्वलक्षण एक क्षण से अधिक स्थिर नहीं रह सकता और इस प्रकार वे अपने बाह्य प्रत्यक्षवाद के साथ क्षणभंगवाद का समन्वय करते हैं। प्रत्यक्ष गोचर स्वलक्षणों की संख्या अनन्त होने के कारण वैभाषिक दर्शन को 'वैपुल्यवादी–वस्तुवादी' भी कहा जाता है।

वैभाषिक सम्प्रदाय के प्रत्यक्ष के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुसार 'स्वलक्षण' वह सत्ता है, जिसका ज्ञान शुद्ध प्रत्यक्ष के द्वारा मनुष्य को होता है। चूँकि वैभाषिय बाह्य जगत को प्रत्यक्षानुभूत मानते हैं, अतएव यह विचार स्वाभाविक है कि इस सम्प्रदाय में स्वलक्षणों को ही जगत की परम सत्ता माना जाता है। परन्तु वैभाषिक सम्प्रदाय में यह धारणा गलत है कि स्वलक्षणों की ही जगत में परम सत्ता है, क्योंकि वैभाषिकों के मत में 'स्वलक्षण' बोध वस्तु की परम सत्ता मात्र है, वह जगत की परम सत्ता नहीं है। इस मत में परम सत्ता की कल्पना स्वलक्षणों से भिन्न करके की गयी है। और उसे धर्म कहा गया है जो अनेक हैं। इन धर्मो के संग्रह तथा परस्पर संयोग से विश्व के सभी तत्वों की रचना होती है, चाहें वे बाह्य जगत के हों अथवा आभ्यन्तर जगत के। विभाषाशास्त्र में इन धर्मों के अपने–अपने स्वाभाविक गुण माने गये हैं; जिनके कारण उनके समूही करण से स्कन्धों की रचना होती है। चूँकि स्कन्धों की उत्पत्ति कुछ विशेष स्थिति में धर्म रुपी कारणों से होती है, अतएव वैभाषिक उन्हें स्वभावतया नाश्वान मानते हैं।

1.2.6 वैभाषिक सम्प्रदाय की तत्वमीमांसा– विषयगत दृष्टि से तत्व की व्याख्या

'स्कन्ध' शब्द का प्रयोग बौद्ध दर्शन में जगत् के समस्त भूत एवं भौतिक पदार्थो के लिए होता है। ये स्कन्ध पाँच हैं– रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान। वैभाषिक दर्शन इन पाँचों स्कन्धों की व्याख्या को पहले से चली आ रही व्याख्या के रुप में ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया है।

आयतनों की व्याख्या– बौद्ध दर्शन में आयतन का अर्थ है– आधार। चूँकि कोई भी ज्ञान बिना विषय एवं इन्द्रिय के नहीं हो सकता, अतएव बौद्ध दर्शन में उसको 'आयतन' कहा गया है। विभाषाशास्त्र के अनुसार आयतनों की संख्या बारह है– मन, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा इनके छः विषय, जिन पर आधारित होकर ही किसी ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है।

धातु निरुपण– वैभाषिक सम्प्रदाय में 'धातु' शब्द का प्रयोग स्वलक्षण के अर्थ में होता है अर्थात ये वे सूक्ष्म तत्व हैं, जिनके समूह से ज्ञान सन्तति की उत्पत्ति होती है। इन धातुओं की संख्या अठारह बतायी गयी हैं– छः इन्द्रियाँ, इन इन्द्रियाँ के छः विषय तथा इन इन्द्रियों से उत्पन्न छः विज्ञान। इन अठारह धातुओं की गणना इस प्रकार है–

इन्द्रिय– चक्षुर्धातु, श्रोतधातु, घ्राण धातु, रसना धातु, काय धातु, मनो धातु।

विषय– रुप धातु, शब्द धातु, गन्ध धातु, रस धातु, स्प्रष्टव्य धातु एवं धर्म धातु।

विज्ञान– चक्षु विज्ञान धातु, श्रोत्र विज्ञान धातु, घ्राण विज्ञान धातु, रसना विज्ञान धातु, काय विज्ञान धातु एवं मनोविज्ञान धातु।

इन अठारह धातुओं में इन्द्रिय एवं विषय सम्बन्धी बारह धातुएँ आयतन के अन्तर्गत हैं और शेष छः धातुएँ विज्ञान रुप मानी गयी है।

1.2.7 विषयगत दृष्टि से तत्व की व्याख्या

वैभाषिकों ने विषयगत दृष्टि से धर्मो को दो कोटि में विभक्त किया है–

(1) संस्कृत धर्म और 2– संस्कृत धर्म। संस्कृत धर्म उन धर्मो को कहते हैं, जो कार्य–कारण परम्परा (हेतु प्रत्यय जनित) का अनुसरण करते हुए परम्परा संघटन

से जगत की रचना करते हैं। हेतु–प्रत्यय जनित होने के कारण वे स्वरुप से ही अनित्य, अस्थायी एवं मलिन होते हैं। बसुबन्ध के अनुसार रुप, वेदनादि पंच स्कन्ध ही संस्कृत धर्म हैं। संस्कृत धर्मो के प्रतिकूल असंस्कृत धर्म हेतु–प्रत्यय परम्परा से परे, नित्य, शुद्ध एवं स्थायी होते हैं। वैभाषिक संस्कृत धर्मो को तीन प्रकार से मानतें हैं–रुप, चित्त एवं चैतसिक। सर्वास्तिवादियों ने इनके अतिरिक्त 'चित्तविप्रयुक्त' नाम एक चौथे प्रकार के संस्कृत धर्म की कल्पना की है।

(i) रुप धर्म– बौद्ध दर्शन में 'रुप' शब्द का प्रतिघात अर्थ में प्रयोग होता है। प्रतिघात का अर्थ है– अवरोध करना। अतएव रुप के अन्तर्गत उन सभी भूत एवं भौतिक पदार्थो की गणना की जाती है। जो इन्द्रियों के विषय होने में समर्थ हैं। रुप का सूक्ष्मतम विभाग परमाणु माना गया है। इन परमाणुओं के परस्पर संघात से अणुओं की और अणुओं के संघात से स्थूल वस्तुओं की रचना होती है। चूँकि इन्द्रियों की उत्पत्ति भी इन्हीं परमाणुओं से होती है, अतएव वैभाषिक मत में पंच बाह्येन्द्रिय (चक्षु, शब्द, गन्ध, रस तथा स्प्रष्टव्य) एवं अविज्ञप्ति, ये ग्यारह भेद माने गये हैं। आचार्य बसुबन्धु किसी विक्षिप्त अथवा ध्यानावस्थित चित्त में ही होती है। दूसरे शब्दों में यह एक प्रकार की कर्म शक्ति है, जिसका ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों के क्षरा किसी अन्य व्यक्ति को नहीं हो सकता।

(ii) चित्त धर्म– चूँकि चित्त संस्कृत धर्म का एक भेद है, इसलिए वैभाषिक निकाय में इसे भी उत्पत्तिमान एवं विनाशवान माना गया है। चित्त की उत्पत्ति इन्द्रिय तथा उसके विषयों के प्रतिघात से होती है, जिसके फलस्वरुप इस प्रतिघात के नष्ट होने पर चित्त का भी तत्काल नाश हो जाता है। इस चित्त को ही क्रिया भेद से चित्त, मन, विज्ञान आदि नामों से पुकारा जाता है।

(iii) चैतसिक धर्म– चित्तगत व्यापार अथवा मनोव्यापार को चैतसिक धर्म कहते हैं। यों तो चैतसिक धर्मो की गणना चित्त धर्मों के ही अन्तर्गत ही होनी चाहिए, लेकिन बौद्ध दर्शन में गुणों की सत्ता पदार्थ से भिन्न मानी जाती है। अतएव चैतसिक धर्म को चित्त से भिन्न मानना उचित है। चित्त के समान चैतसिक धर्मों की भी उत्पत्ति इन्द्रिय एवं विषयों के आघात–प्रतिघात से होती है।

(iv) चित्त–विप्रयुक्त धर्म– जो धर्म रुप और चित्त के अन्तर्गत नहीं आते, उन्हें चित्त–विप्रयुक्त धर्म कहा जाता है। यद्यपि ये धर्म रुप एवं चित्त से भिन्न तो अवश्य है, किन्तु इनमें बिना किसी रुप धर्मो या चित्त धर्म से संयुक्त हुए किसी प्रकार की क्रिया की निष्पत्ति नहीं हो सकती।

असंस्कृत धर्म–

अभिधर्मकोश में असंस्कृत धर्मों के तीन भेद बतलाये गये हैं– (1) प्रतिसंख्यानिरोध (2) अप्रतिसंख्यानिरोध (3) आकाश

(2) प्रतिसंख्यानिरोध– आचार्य बसुबन्ध प्रतिसंख्यानिरोध की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि– 'प्रतिसंख्यानिरोधों यो विसंयोगः पृथक–पृथक' इस परिभाषा का अर्थ है– प्रतिसंख्या (जिसका अर्थ प्रज्ञा है) द्वारा क्लेश, राग, द्वेषादि का जो निरोध होता है, उसे प्रतिसंख्या निरोध कहते हैं। वैभाषिक मत में इस धर्म को अनुत्तर अर्थात

सर्वश्रेष्ठ धर्म माना गया है। स्थविरवाद में जहाँ निर्वाण की कल्पना राग द्वेषादि के निरोध के रुप में की गयी है, प्रतिसंख्या निरोध को 'निर्वाण' रुप ही माना गया है।

(3) अप्रतिसंख्यानिरोध– प्रतिसंख्या अर्थात प्रज्ञा के बिना जो निरोध होता है, वह अप्रतिसंख्यानिरोध कहलाता है। बौद्ध धर्म में राग, द्वेष, मोह आदि क्लेशों के निरोध के दो मार्ग उपनीत हैं, एक तो उनका प्रज्ञा द्वारा नाश और दूसरा उन हेतुओं का निरोध जिनके कारण इन क्लेशों की उत्पत्ति होती है। प्रथम पक्ष को प्रतिसंख्यानिरोध कहा जाता है और दूसरे पक्ष को जिसमें केवल हेतुओं के विनाश द्वारा बिना प्रज्ञा की सहायता के निरोध होता है, उसे 'अप्रतिसंख्यानिरोध' कहते हैं। प्रतिसंख्यानिरोध के समान अप्रतिसंख्यानिरोध को भी निर्वाण का स्वरुप माना गया है।

(4) आकाश–आकाश को अनावृत्त कहा गया है। आकाश का न तो किसी अन्य धर्म से अवच्छेद होता है और न वह स्वतः किसी धर्म का अवरोध अथवा अविच्छेद करता है। वह स्वभाव से ही नित्य, स्थायी एवं निरविच्छन्न है। परन्तु आकाश के सम्बन्ध में यह बात ध्यान रखने की है कि बौद्ध धर्म में आकाश को भाव रुप माना गया है, अभाव रुप नहीं।

1.2.8 वैभाषिक सम्प्रदाय के मूलनिहितार्थ

वैभाषिक सम्प्रदाय का मूल आधार 'अभिधम्मपिटक' है, जिसे बुद्ध वचन भी कहा जाता है। वैभाषिक रुप की विचारधारा के प्रमुख अवधारणात्मक रुप सात ग्रन्थों में संकलित मिलतें हैं। इनमें कात्यायनीपृत्र रचित 'अभिधर्मज्ञान प्रस्थान' प्रमुख ग्रन्थ है। 'अभिधर्मज्ञान प्रस्थान' पर वसुमित्र कृत 'महाविभाषा या विभाषा नामक भाष्य है। इस भाष्य को इतनी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई कि इसके अनुयायी वैभाषिक कहे जाने लगे। महाविभाषा का संक्षिप्त रुप बसुबन्ध कृत 'अभिधर्मकोश' है। इसके अतिरिक्त यशोमित्र कृत 'स्फुटार्था' संघभद्र कृत 'न्यायानुसारशास्त्र' एवं धर्मकीर्ति द्वारा विरचित 'न्यायबिन्दु' वैभाषिक सम्प्रदाय के उल्लेखनीय ग्रन्थों में सम्मिलित हैं।

वैभाषिक सम्प्रदाय प्रत्यक्ष ज्ञान की संभावना के लिए बाह्य जगत की सत्ता को स्वीकार करता है। वैभाषिक सम्प्रदाय की यह मान्यता है कि बाह्य जगत का साक्षात्–प्रत्यक्ष होता है। यदि बाह्य जगत के अस्तित्व को अस्वीकार किया जाय, तो प्रत्यक्ष ज्ञान असंभव होगा और प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान भी असंभव होगा। अनुमान का आधार व्याप्तिवाक्य है। प्रत्यक्ष ज्ञान से प्राप्त सामग्री के अभाव में व्याप्तिवाक्य स्थापित नहीं हो सकता। वैभाषिक सम्प्रदाय का कहना है कि हमारा अनुभव इस बात का प्रमाण है कि जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं वह प्रत्यक्ष होता है। इसलिए वैभाषिक का यह मत बाह्य प्रत्यक्षवाद कहलाता है।

सौतांत्रिक सम्प्रदाय के अनुसार वैभाषिक प्रत्यक्षवाद क्षणिकवाद सिद्धान्त से असंगत है। यदि बाह्य प्रत्यक्षवाद को तर्कसंगत माना जाय; तो वस्तु को कम से कम दो क्षणों तक अस्तित्वान मानना पड़ेगा; एक वह क्षण जिसमें वस्तु का इन्द्रिय सन्निकर्ष होगा, द्वितीय वह क्षण जिसमें वस्तुतः उसका प्रत्यक्ष होगा। यह स्थिति बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद के प्रतिकूल होगी। अतएव सौतांत्रिक सम्प्रदाय का यह मानना है कि व वैभाषिक सम्प्रदाय का बाह्य प्रत्यक्षवाद बौद्ध दर्शन की मूल भावना के प्रतिकूल है।

वैभाषिक सम्प्रदाय के विरुद्ध यह आरोप लगाया जाता है कि वैभाषिक की तत्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा एक व्यर्थ प्रपंचवाद का पोषण करती है। इसलिए वैभाषिक द्वारा बाह्य जगत के ज्ञेय होने का दावा निरर्थक है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वैभाषिक सम्प्रदाय के दोष का परिहार करने के लिए सौतांत्रिक सम्प्रदाय बाह्यनुमेयवाद का प्रतिपादन किया, किन्तु आचार्य शंकर का कहना है कि 'नसतो विद्यतेऽदृष्टत्वात्' अर्थात अभाव से भाव की उत्पत्ति असंभव है।

1.3 सौत्रांतिक सम्प्रदाय

1.3.1 सौत्रांतिक सम्प्रदाय के मूल निहितार्थ

सौतांत्रिक सम्प्रदाय के अनुयायी सुत्तपिटक को प्रधान मानकर उसी का अनुसरण करना उचित समझते थे और इसी कारण उनका नाम सौतांत्रिक पड़ा। परम्परा के आधार पर कुमारलाट, यशोमित्र, धर्मचात एवं बुद्धदेव इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य बताये जाते हैं। यद्यपि वैभाषिक एवं सौतांत्रिक सर्वास्तिवादी हैं; किन्तु बाह्य जगत की सत्ता की सिद्धि को लेकर वैभाषिक एवं सौतांत्रिक एक दूसरे से भिन्न विचारधारा का प्रतिपादन करते हैं। वैभाषिक बाह्य जगत की सत्ता को प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करते हैं; तो सौतांत्रिक बाह्य सत्ता को अनुमान के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

सौतांत्रिक सम्प्रदाय में बाह्य सत्ता को केवल इन्द्रिय प्रेरक माना गया है। सौतांत्रिक मत के अनुसार इन्द्रिय से सन्निकर्ष होने वाले क्षण के अन्त होते ही विषय का नाश हो जाता है और इस विनाश के उपरान्त चित्त में उसके आकार की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सौतांत्रिक इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि प्रत्यक्ष में बाह्य वस्तु का ज्ञान नही होता है; वरन् तदाकार चित्त का ही ज्ञान होता है। यही कारण है कि सौतांत्रिक बाह्यनुमेयवादी कहलाते हैं।

1.3.2 सौत्रांतिक सम्प्रदाय के अनुसार ज्ञान के चार कारण

सौतांत्रिक ने ज्ञान के चार चर.ा अथवा प्रत्यय माने हैं– (1) आलम्बन (2)समनन्तर (3) अधिपति एवं (4) सहकारी। किसी भी बाह्य ज्ञान के विश्लेषण करने पर हमें ज्ञात होगा कि उसकी उत्पत्ति बिना किसी बाह्य पदार्थ के विषय को विषय बनाये, जिसके कारण तदाकार ज्ञान क उत्पत्ति होती है, नहीं हो सकती। इस प्रकार के बाह्य विषय को आलम्बन प्रत्यय कहा जाता है। आलम्बन प्रत्यय के होते हुए भी उत्पन्न ज्ञान में अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञान के बिना चेतना की संभावना नहीं हो सकती। अतएव यह पूर्ववर्ती ज्ञान भी ज्ञान के उत्पत्ति में कारण है। इस कारण को सौतांत्रिक दर्शन में समनन्तर प्रत्यय कहा गया है। आलम्बन प्रत्यय एवं पूर्ववर्ती प्रत्यय के होते हुए भी इन्द्रिय के अभाव में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि ज्ञानात्पत्ति के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियों का कारणतत्व स्वीकार करना उचित ही है। इन्द्रियों का यह कार.ात्व सौतांत्रिक मत में अधिपति प्रत्यय के नाम से जाना जाता है। अधिपति प्रत्यय के अतिरिक्त वस्तु का आकार, आलोक आदि सहकारी कार.ाों की स्थिति भी ज्ञानोत्पत्ति में आव'यक है। इन कारणों को सौतांत्रिक सहकारी प्रत्यय कहते हैं। इस प्रकार सौतांत्रिक सम्प्रदाय के दार्शनिकों की यह स्पष्ट मान्यता है कि बिना उपर्युक्त चार प्रत्ययों के ज्ञान संभव नहीं है।

1.3.3 सौतांत्रिक का बाह्य नुमेयवाद

सौतांत्रिक सम्प्रदाय वैभाषिक सम्प्रदाय के दोषों का निराकरण करने के लिए बाह्नुमेयवाद का प्रतिपदान किया; किन्तु यह समाधान भी असंतोषजनक सिद्ध हुआ। वास्तविकता यह है कि सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन में ऐसा कोई नित्य द्रव्य नहीं माना गया है; जो तत्वों को एक साथ संयुक्त कर वंछित विषय को उत्पन्न कर सके। सौतांत्रिक सम्प्रदाय की विचारधारा पर आचार्य शंकर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि ''तथाकथित बाह्य एवं आन्तरिक संघातों की उत्पत्ति असंभव है; क्योंकि इनके समुदायी अचेतन हैं। अचेतन एवं क्षणिक स्कन्ध (परमाणु) किसी भी संघात का निर्माण नहीं कर सकते।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सौतांत्रिक का बाह्यनुमेयवाद भी एक अपर्याप्त सिद्धान्त बनकर रह गया और इसका तार्किक परिणाम योगाचार सम्प्रदाय के विज्ञानवाद के रुप में आया, जिसमें सर्वास्तिवाद के बाह्य जगत का ही निराकरण हो गया।

1.4 योगाचार या विज्ञानवाद

1.4.1 विज्ञानवाद से तात्पर्य

योगाचार बौद्ध दर्शन में महायान शाखा का एक दार्शनिक है; जिसको विज्ञानवाद भी कहा जाता है। योगाचार योग–साधन पर अत्यधिक बल देते हैं तथा यह मानते हैं कि विज्ञान से तत्व प्रतिपत्ति का आभास होता है। विज्ञानवाद को योगाचार संज्ञा इसलिए दी गयी; क्योंकि इसमें बोधिसत्व अर्थात परमतत्व की प्राप्ति के लिए यौगिक साधनों की उपयोगिता बतायी गयी है। निर्वाण लाभ में 'योग' के आचार को परमावश्यक मानने के कारण यह सम्प्रदाय 'योगाचार' के नाम से विख्यात हुआ। विज्ञान की ही एकमात्र सत्ता को मानने के कारण ही इस मत को विज्ञानवाद की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है।

विज्ञानवाद के आदि प्रवर्तक मैत्रेयनाथ थे; किन्तु इस मत को लोकप्रिय बनाने का श्रेय असंग और बसुबन्धु को है; जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना करके इसका सर्वांगपूर्ण विवेचना की। योगाचार दर्शन के विकास में स्थिरमति, दिग्नांग एवं धर्मकीर्ति का भी विशेष योगदान है। विज्ञानवाद, तत्वमीमांसा की दृष्टि से विशिष्ट विचारधारा है; क्योंकि इसके अन्तर्गत सत्ता का स्थान बाह्य सत्ता से हटाकर मनुष्य के अन्तर्जगत में स्थित बताया गया है। वैभाषिक एवं सौतांत्रिक सम्प्रदाय में स्वलक्षणों की बाह्य सत्ता को मान्यता प्रादन किया गया है। विज्ञानवाद में स्वलक्षणों के बाह्य सत्ता का निराकरण केवल विज्ञान की ही सत्ता को प्रमाणि ात करने का प्रयास किया गया है।

1.4.2 विज्ञानवाद की सिद्धि के लिए तर्क

विज्ञानवाद सौतांत्रिक सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत बाहृयनुमेयवाद का तार्किक विकास है। विज्ञानवाद का यह मानना है कि ज्ञान की प्रक्रिया का एक अधिष्ठान होना चाहिए और यह अधिष्ठान विज्ञान है। योगाचार सम्प्रदाय निम्नलिखित तर्क के आधार पर विज्ञानों की ही एकमात्र सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करता है–

1. विज्ञानवादियों का मानना है कि यदि कोई बाह्य वस्तु हैं, तो उसका ज्ञान संभव नहीं है। संसार की प्रत्येक वस्तु या तो अणुरुप है या अणुओं का

संघात् हैं; जिसके साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष असंभव है। अतएव बाह्यार्थ की सत्ता में विश्वास के लिए कोई युक्ति संगत आधार नहीं है।

2. यदि बाह्यार्थ की सत्ता के ज्ञान को संभव भी माना जाय, तो बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद दूषित हो जाता है। अतएव बाह्यार्थ की सत्ता के लिए कोई प्रमाण नहीं है।

3. विज्ञानवाद स्वप्न सादृश्य के आधार पर भी बाह्य जगत की सत्ता को अस्वीकार करके विज्ञानवाद की स्थापना करता है। विज्ञानवाद का मानना है कि जिस प्रकार हम स्वप्नावस्था में वस्तुओं को बाहर देखते हैं; जबकि वे हमारे मन मे होती हैं; उसी प्रकार जाग्रतावस्था के विषय में भी मन में होते हैं मन से बाहर नहीं है। अतएव वस्तु जगत् विज्ञानों की अभिव्यक्ति मात्र हैं।

4. धर्मकीर्ति सहोपलम्भ नियम के आधार पर ज्ञान एवं उसके विषय के एकाकारता को प्रतिपादन करते हुए यह दिखाते हैं कि जिस समय नील वर्ण विषय के रुप में उपस्थित होता है उसी समय नीले रंग का ज्ञान भी होता है। इस प्रकार सहोपलम्भ नियम का अर्थ यह है कि ज्ञान एवं तद्विषय की सदैव एक साथ अभिव्यक्ति के बिना विषय की उपलब्धि होती है। ज्ञान की अभिव्यक्ति के बिना विषय की उपलब्धि नही हो सकती है और विषय की अभिव्यक्ति के बिना ज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं है। अतएव ज्ञान एवं ज्ञेय (विषय) की उपलब्धि सदैव एक साथ ही होती है।

5. दिङ्ग्नाग का मानना है कि हमारे विज्ञान ही बाह्य विषय के समान प्रतीत होते हैं। अतएव विज्ञानेत्तर किसी बाह्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है।

6. योगाचार सम्प्रदाय विज्ञानों में विविधता का कारण बाह्य वस्तु को न मानकर वासना की विविधता को मानते हैं। विज्ञानवादियों के अनुसार विज्ञान वासना से वासित हैं(जिसके कारण ही वे अनेक रुप में आभासित होते हैं।

7. विज्ञानवादियों भ्रम की भी व्याख्या के लिए विज्ञान की ही सत्ता के आधार पर करते हैं। विज्ञानवादियों का कहना है कि मन विज्ञानों की एक सन्तति हैं; जिसमें विज्ञान उत्पन्न होते हैं और निरुद्ध होता है; विज्ञान से भिन्न किसी बाह्य वस्तु से नहीं। अतएव विज्ञान की ही एकमात्र सत्ता है।

1.4.3 विज्ञानवाद के भेद

विज्ञान के स्वरुप को स्पष्ट करने के लिए योगाचार सम्प्रदाय विज्ञान के दो भेद करता है– आलय विज्ञान एवं प्रवृत्ति विज्ञान। बसुबन्धु आलय विज्ञान को विज्ञाप्ति कहता है। आलय विज्ञान सभी विज्ञानों का केन्द्र हैं; जिसमें और जिसके द्वारा सभी विज्ञान उत्पन्न होते हैं। यह सर्वव्यापक विज्ञान प्रवाह है; जिसके अन्तर्गत अनन्त प्रवृत्ति विज्ञानों के विभिन्न विज्ञान प्रवाह निरन्तर प्रवाहित हो रहें है। यह आलय विज्ञान अनित्य एवं क्षणिक है; किन्तु इस आलय विज्ञान में समस्त संसार बीज रुप में विद्यमान है।

1.4.4 आलय विज्ञान

योगाचार सम्प्रदाय में आलयय विज्ञान के अतिरिक्त प्रवृत्ति विज्ञान को भी स्वीकार किया गया है। यह प्रवृत्ति विज्ञान संख्या में सात हैं– चक्षु विज्ञान, श्रोत

विज्ञान, घ्राण विज्ञान, रसना विज्ञान, काय विज्ञान, मनो विज्ञान एवं क्लिष्ट विज्ञान। ये प्रवृत्ति विज्ञान आलय विज्ञान से ही समुद्र–तरंगों की भॉति उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। वास्तविकता यह है कि प्रवृत्ति विज्ञान आलय विज्ञान की ही विषय–विषयी के रुप में अविद्याजन्य व्यावहारिक अभिव्यक्तियां हैं।

निष्कषर्तः कहा जा सकता है कि विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान ही एकमात्र सत् है। विज्ञान के परे एवं विज्ञान के अतिरिक्त कोई श्री सत्ता नही है। योगाचार को सर्वप्रथम माध्यमिकों के ही आलोचना का शिकार होना पड़ा और माध्यमिकों ने यह विचार व्यक्त किया है योगाचार जिन तर्को से बाह्य जगत का निषेध करता है, उन्हीं तत्वों से उसके विज्ञान तत्व का निषेध किया जा सकता है। आचार्य शंकर का कहना है कि 'नाभावोपलब्धेः' अर्थात हमें बाह्य–वस्तुओं की उपलब्धि होती है, अतः उनके अनास्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार बाह्यार्थ को अस्वीकार करना अनुभव विरुद्ध है। आचार्य शंकर का यह भी कहना है कि विज्ञानवादी बाह्य वस्तु का यह कहकर जब खण्डन करते हैं कि हमारे आन्तरिक विज्ञान ही बाह्य वस्तु के समान दिखायी देते हैं; तब वे यह स्वीकार करते हैं कि कोई बाह्य वस्तु अवश्य है जिसके समान हमारे विज्ञान दिखायी पड़ते है। इसके अतिरिक्त शंकर का यह भी मानना है कि सुहोपलम्भ नियम से यह नहीं सिद्ध होता है कि विज्ञान और उसका विषय एक ही है। ज्ञान और उसके विषय की परस्पर तुलना करना अथवा दोनों में अभेद दिखाना पदार्थ विभ्रम दोष (Category Mistake) है। शंकर का कहना है कि विज्ञानवादियों द्वारा जाग्रत एवं स्वप्न की तुलना करना भी असंगत है, क्योंकि दोनों में वैधर्म्य है। शंकर का यह भी कहना है कि विज्ञानवादियों बाह्य वस्तुओं की सत्ता को अस्वीकार करने पर यह प्रश्न उठता है कि वासना, आती कहाँ से हैं? वासनाओं के बिना बाह्य वस्तुओं के बिना वासनाएं नहीं हो सकती है। किन्तु बाह्य वस्तुओं के बिना वासनाएं नहीं हो सकती है। आलय विज्ञान भी वासनाओं के उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता है; क्योंकि वह भी अनित्य एवं क्षणिक है।यदि प्रत्येक विज्ञान क्षणिक एवं सापेक्ष है; तो वह अन्य की अपेक्षा करेगा और अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। इस प्रकार शंकराचार्य का कहना है कि विज्ञानवाद बौद्ध दार्शनिक परम्परा के विकास में एक नूतन चिन्तन विधा को प्रकट करता है। यदि परमार्थ एवं व्यवहार के भेद के रुप विज्ञान एवं बाह्य वस्तु को ग्रहण किया जाय; तो विज्ञानवाद में शंकर विचार बीज रुप में अन्तर्निहित दिखायी पड़ते हैं।

1.5 माध्यमिक या शून्यवाद

1.5.1 शून्यवाद से तात्पर्य

माध्यमिक या शून्यवाद बौद्ध तार्किक चिन्तन की पराकाष्ठा है। आचार्य नागार्जुन को शून्यवाद का प्रवर्तक माना जाता है। नागार्जुन की 'मूल माध्यमिककारिका', 'विग्रहव्यावर्तिनी' और 'प्रज्ञापारमितासूत्र', शून्यवादी दर्शन की आधारशिला है। कालान्तर में आर्यदेव ने चन्द्रकीर्ति, शान्तिदेव एवं शान्तिरक्षित ने शून्यवाद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि–

'न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।

उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन् केचन्।।

अर्थात किसी का भी कहीं भी अस्तित्व नहीं है, चाहें हम उसे स्वंय से उत्पन्न माने या दूसरे से उत्पन्न मानें या दोनों से उत्पन्न माने या किसी भी कारण

से उत्पन्न माने अर्थात उत्पत्ति न स्वतः होती है और न परतः होती है और न अनुभयतः होती है। इस प्रकार माध्यमिक की दृष्टि में उत्पत्ति (कार्य–कारण) की धारणा मिथ्या प्रत्यय मात्र है, वस्तु स्वभाव नहीं। माधमिक दर्शन तत्व को 'शून्य' या 'शून्यता' कहता है। माध्यमिक जिसे शून्य कहता है; वह वस्तु का पारमार्थिक स्वरुप है; जिसका तात्पर्य 'निःस्वभावता' है। तत्व को शून्य कहने का तात्पर्य यह है कि तत्व प्रपंचशून्य है और बाह्य जगत स्वभावशून्य हैं।

1.5.2 माध्यमिक सम्प्रदाय के अनुसार तत्व

माध्यमिक सम्प्रदाय के अनुसार तत्व बुद्धि की कोटियों से अतीत है। बुद्धि की चार कोटियाँ हैं– सत्, असत्, सदसत् और न सत् और न असत्। बुद्धि इन कोटियों से केवल सम्बन्धयुक्त सत्ता का ज्ञान संभव है। तत्व का ज्ञान बुद्धि की चतुष्कोटियों से संभव न होने के कारण इसे चतुष्कोटि विनिर्मुक्त, अनभिलाप्य एवं अव्याख्यये कहा गया है। इसलिए जब भी हम तत्व के स्वरुप को जानने का प्रयास करते हैं; बुद्धि असफल हो जाती है। अतएव माध्यमिकों का कहना है कि तत्व पारमार्थिक स्वरुप बुद्धि से पूर्णतया परे एवं अव्याख्येय होने के कारण 'शून्य' है। नागार्जुन ने बुद्ध के उपदेशों से संगति स्थापित करने के लिए दो सत्यों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है– संवृत्ति या व्यवहार सतय एवं परमार्थ सत्य। संवृत्ति सत्य के अंतर्गत सम्पूर्ण बुद्धिमय संसार आ जाता है और यह भी दो प्रकार का है– लोक संवृत्ति एवं मिथ्या संवृत्ति। परमार्थ सत्य बुद्धि से परे अवर्णनीय एवं निःस्वभाव है। इस प्रकार माध्यमिक के अनुसार जगत् एवं परमार्थ तत्व दोनों ही निःस्वभाव है, जगत तत्वशून्य अर्थात प्रतीत्य समुत्पन्न होने के कारण निःस्वभाव है और परमार्थ तत्व प्रपंचशून्य होने के कारण निःस्वभाव है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि माध्यमिक दर्शन में परमार्थ और संवृत्ति दो अलग–अलग सत्य नहीं है, अपितु सत्य को परमार्थ ही है। परमार्थ की प्राप्ति के पूर्व सवृंत्ति को, जो वस्तुतः असत्य है, 'सत्य' के रुप में मान लिया जाता है। यह अनिवार्य है; क्योंकि संवृत्ति के मिथ्यात्व का ज्ञान परमार्थ प्राप्ति से ही संभव है। संवृत्ति बृद्धि व्यापार है और परमार्थ बृद्धि विकल्पातीत है।

माध्यमिक सम्प्रदाय में परमार्थ तत्व को शून्य कहा गया है; जिसके कारण इस पर अभाववाद, अनस्तिवाद एवं सर्वनैनशिवाद का आक्षेप लगाया जाता है; किंतु ये सारे, आरोप निराधार हैं; क्योंकि माध्यमिक केवल लोक संवृत्ति को तत्वशून्य कहता है और पारमार्थिक सत्य में आस्था पगकट करता है। आचार्य शंकर शून्यवाद की आलोचना करते हुए केवल इतना ही कहा है कि शून्यवाद सभी प्रमाणों के विरुद्ध है। आचार्य कुमारिल शून्यवाद पर गम्भीर आरोप लगाते हुए यह कहा है कि संवृत्ति सत्य को सत्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जो सत्य है वह निरपेक्ष सत्य है। यदि संवृत्ति सत्य का अन्ततः परित्याग करना है तो उसका विचार ही निरर्थक है। यदि दोनों को युगपत–माना जाय, तो परमार्थ भी संवृत्ति के दोषों से दूषित हो जाएगा। वास्तविकता यह है कि शून्यवाद के मूल भावना के न समझने का ही प्रतिफल है। नागार्जुन ने परमार्थ को ही अन्तिम सत्य माना है। उन्होंने लोक व्यवहार के लिए ही संवृत्ति सत्य को स्वीकार किया है और उसे पारमार्थिक दृष्टि से अस्वीकार किया है। नागार्जुन के इस विचारधारा का प्रकारानतर से आचार्य शंकर भी उस समय समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं, जब वे कहते हैं कि बाह्य जगत केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है; यद्यपि परमार्थः केवल ब्रह्म ही सत्य है। यही कारण है कि अनेक विचारकों ने शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध की संज्ञा से विभूषित किया है।

1.6 सारांश

मूल बौद्ध धर्म के कालान्तर में दो सम्प्रदाय हो गये जिनमें थेरवाद एवं स्थिरवाद 'हीनयान' कहलाया तथा दूसरा मत महायान कहलाया, जिसमें बौद्ध धर्म की कठोरताओं को शिथिल करते हुए 'बोधिसत्व' की अवधारणा को मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य घोषित किया गया। बौद्ध धर्म के अतिहास से यह ज्ञान होता है कि पारस्परिक विवादों के कारण बौद्ध दर्शन के कुल अठारह सम्प्रदाय हो गये थे; किन्तु इनमें से केवल चार सम्प्रदाय ही व्यवस्थित रुप में प्रचलित हुए हैं। ये चार सम्प्रदाय इस प्रकार हैं– वैभाषिक, सौतांत्रिक, योगाचार या विज्ञानवाद तथा माध्यमिक या शून्यवाद। इन चारों सम्प्रदायों में वैभाषिक एवं विज्ञानवाद एवं शून्यवाद बौद्ध दर्शन की महायान शाखा से सम्बन्धित हैं।

वैभाषिक सम्प्रदाय का मूल आधार 'अभिधम्मपिटक' है, जिसे बुद्ध वचन भी कहा जाता है। वैभाषिक सम्प्रदाय की विचारधारा के विभिन्न अवधारणात्मक रुप सात ग्रन्थों में संकलित मिलते हैं। इनमें कात्यायनीपुत्र रचित 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थान' प्रमुख ग्रन्थ है। वैभाषिक सम्प्रदाय प्रत्यक्ष ज्ञान की संभावना के लिए बाह्य जगत की सत्ता को स्वीकार करता है।

सौतांत्रिक सम्प्रदाय के अनुयायी 'सुत्तपिटक' को प्रधान मानकर उसी का अनुसरण करना उचित समझते थे और इसी कारण उनका नाम सौतांत्रिक पड़ा। कुमारलाट, यशोमित्र, धर्मत्रात एवं बुद्धदेव इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य बताये जाते हैं। सौतांत्रिक भी बाह्य सत्ता को स्वीकार करते हैं, किन्तु ये बाह्नुमेयवादी हैं।

योगाचार या विज्ञानवाद बौद्ध दर्शन के महायान शाखा का एक दार्शनिक सम्प्रदाय है। योगाचार योगसाधना पर विशेष बल देते हैं तथा यह मानते हैं कि विज्ञान से तत्व प्रतिपत्ति का आभास होता है। विज्ञानवाद के आदि प्रवर्तक मैत्रेयनाथ थे, किन्तु इस मत को लोकप्रिय बनाने का श्रेय असंग और बसुबन्धु को है। जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना करके इसका सर्वांगपूर्ण विवेचना की। विज्ञान के स्वरुप को स्पष्ट करने के लि, योगाचार सम्प्रदाय विज्ञान के दो भेद करता है– आलय विज्ञान एवं प्रवृत्ति विज्ञान। बसुबन्धु आलय विज्ञान को 'विज्ञप्तिमात्रता' कहता है। विज्ञप्तिमात्रता से ही सभी विज्ञान उत्पन्न होते हैं। माध्यमिक या शून्यवाद बौद्ध तार्किक चिन्तन की पराकाष्ठा है। आचार्य नागार्जुन को शून्यवाद का प्रवर्तक माना जाता है। माध्यमिक दर्शन में तत्व को 'शून्य' या 'शून्यता' कहा गया है। शून्य वस्तु का पारमार्थिक स्वरुप है, जिसका अर्थ 'निःस्वभावता' है। तत्व को शून्य कहने का तात्पर्य है– तत्व प्रपंचरहित है और बाह्य जगत– स्वभावशून्य है। नागार्जुन ने बुद्ध के उपदेशों से संगति स्थापित करने के लिए दो सत्यों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। संवृत्ति या व्यवहार सत्य तथा परमार्थ सत्य। संवृत्ति बुद्धि व्यापार है और परमार्थ बुद्धि विकल्पातीत है।

1.7 बोध प्रश्न

1. वैभाषिक सम्प्रदाय की मूल मान्यताओं का विवेचन कीजि,?
2. सौतांत्रिक सम्प्रदाय के अनुसार बाह्य सत्ता का अनुमान किया जाता है। समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।
3. वैभाषिक एवं सौतांत्रिक सम्प्रदाय के मूल मान्यताओं को स्पष्ट कीजिए।

4. विज्ञानवादी सम्प्रदाय के मूल मान्यताओं को स्पष्ट कीजिए।
5. शून्यवादी सम्प्रदाय के मूल मान्यताओं को स्पष्ट कीजिए।

1.8 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण– प्रो0 संगल लाल पाण्डेय
2. भारतीय दर्शन– चटर्जी एवं दत्त

****

इकाई–2

प्रतीत्यसमुत्पाद

इकाई की रुपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 प्रतीतत्यसमुत्पाद को आचार्य बुद्ध घोष ने दो भागों में बांटा है

2.3 प्रतीतत्यसमुत्पाद के पारस्परिक निर्भरता के सिद्धान्त के रुप में जरा–मरण

- **2.3.1** जाति
- **2.3.2** भव
- **2.3.3** उपादान
- **2.3.4** तृष्णा
- **2.3.5** वेदना
- **2.3.6** स्पर्श
- **2.3.7** षडायतन
- **2.3.8** नाम–रुप
- **2.3.9** विज्ञान
- **2.3.10** संस्कार
- **2.3.11** अविद्या

2.4 सम्पूर्ण दुःख स्कन्ध का समुदाय ही प्रतीत्यसमुत्पाद है

2.5 वैभाषिक एवं सौतांत्रिक के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद

2.6 माध्यमिक या शून्यवाद के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद

2.7 विज्ञानवाद में प्रतीतत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त

2.8 बौद्ध दर्शन के प्रतीतत्यसमुत्पाद की विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के द्वारा आलोचना

- **2.8.1** न्याय–वैभाषिक द्वारा बौद्ध दर्शन की प्रतीत्यसमुत्पाद क आलोचना
- **2.8.2** बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद का सांख्य दर्शन द्वारा खण्डन

2.9 प्रतीत्यसमुत्पाद का महत्व और आधुनिक वैज्ञानिक युग में उसकी उपादेयता

2.10 निष्कर्ष
2.11 सारांश
2.12 बोध प्रश्न
2.13 उपयोगी पुस्तकें

2.0 उद्देश्य

बौद्ध दर्शन की प्रतीत्यसमुत्पाद की अवधारणा द्वारा महात्मा बुद्ध के द्वितीय आर्य सत्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। द्वितीय आर्य सत्य महात्मा बुद्ध ने यह स्पष्ट किया है कि दुःख का कारण है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन का कारणता का सिद्धान्त हे; जिसमें मनुष्य के दुःखों के मूल कारण तक पहुँचने का प्रयास किया गया है और इने मूल कारणों के निरोध के लिए मार्ग सुझाया गया है।

2.1 प्रस्तावना

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन का केन्द्रीय सम्प्रत्यय है। यह द्वितीय आर्य सत्य है, जिसमें बुद्ध ने दुःख के कारण की खोज किया। महात्मा बुद्ध के अनुसार– दुःख उत्पन्न होता है और दुःख के उत्पन्न होने के कारण भी हैं। क्योंकि संसार में कोई भी घटना अकारण नहीं घटित होती है। उनके अनुसार कारणता का यह सिद्धान्त ' प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम' या 'आश्रित उत्पत्ति का सिद्धान्त' कहलाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का तात्पर्य है– किसी वस्तु के होने पर ही अन्य वस्तु की उत्पत्ति होती है। अतएव बुद्ध के अनुसार दुःख भी अकारण नहीं है। दुःखों के कारण ही खोज की प्रक्रिया में उन्होंने बारह कड़ियों वाली एक लम्बी श्रृखंला की खोज किया है, जिसकी अन्तिम कड़ी अविद्या है और यही दुःखों का मूलभूत कारण है। यही कारण है कि प्रतीत्यसमुत्पाद को 'द्वादश निदान' की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है।

वास्तविकता यह है कि बौद्ध दर्शन का कारण कार्य सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त का अर्थ है कि कारण के होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि प्रतीत्यसमुत्पाद को 'कारणवाद' भी कहा जाता है। कार्य सदा कारण सापेक्ष होता है। कारण के होने पर ही कार्य होता है तथा कारण के न रहने पर कार्य भी नहीं होता है। संसार दुःखमय है। दुःख का निरोध निर्वाण हैं। सापेक्ष दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद दुःख समुदय रुप से संसार है। पारमार्थिक दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपंचोपशम है। प्रतीत्यसमुत्पाद नियम को बौद्ध दर्शन में परिभाषित करते हुए यह कहा गया है कि 'ईमास्नि् सति इदं होति'। अर्थात कार्य के होने पर कारण होता है। जो उत्पन्न होता है, वह कार्य होता है वह सापेक्ष है, जो सापेक्ष है, वह वस्तुतः न सत है न असत है, केवल प्रतीति है। बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय चाहें वे वस्तुवादी हों चाहें विज्ञानवादी हों या चाहें वे शून्यवादी हो, सभी सम्प्रदाय अपनी– अपनी मान्यताओं के समर्थन में प्रतीत्यसमुत्पाद के इस अर्थ को ग्रहण करते हैं कि 'ईमास्नि सति इदं होति'।

2.2 प्रतीतत्यसमुत्पाद को आचार्य बुद्ध घोष ने दो भागों में बांटा है

प्रतीत्यसमुत्पाद को आचार्य बुद्ध घोष ने दो भागों में बॉटा है।

(1) 'प्रतीत्य' अर्थात हेतु समूह के प्रतिमुख होने से है और

(2) 'समुत्पाद' अर्थात अकेला न होकर साथ उत्पन्न होने से है। दूसरे शब्दों में पारस्पिरिक स्वभाव वाले धर्मो को उत्पन्न करने से है।

इस प्रकार 'प्रतीत्य' शब्द से शाश्वत आदि दृष्टियों का और 'समुत्पाद' से उच्छेद आदि दृष्टियों का प्रहाण हो जाता है और दोनों के मध्य रास्ता प्रतिभासित होता है। इसीलिए प्रतीत्यसमुत्पाद को 'मध्यमा–प्रतिपदा' भी कहा जाता है।

2.3 प्रतीत्यसमुत्पाद के पारस्परिक निर्भरता के सिद्धान्त के रुप में जरा–मरा

प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा यह स्पष्ट हो जाने के पश्चात कि संसार के सभी घटनाओं का एक कारण होता है, यह प्रश्न स्वाभाविक है कि दुःख एवं जरा मरण का क्या कारण है? जीवित रहने की आकांक्षा हमारे जीवन की आधारभित्ति है। जन्म लेना मनुष्य के लिए सबसे बड़ा पाप है। यही एक सरल सत्य है, कार्य–कारण की श्रृखंला में जिसका परिष्करण किया गया हैं। वास्तविकता यह है कि प्रतीत्यसमुत्पाद ऐसी परिभाषाओं की श्रृखंला बन गया है, जो समस्त चेतनामय जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध एवं पारस्परिक निर्भरता को व्यक्त करता है।

2.3.1 जाति

दुःख का मूल कारण की खोज में तत्पर बुद्ध ने यह अनुभव किया कि यदि मनुष्य का जन्म न होता; तो उसे दुःख की अनुभूति न होती। दुःख का अस्तित्व केवल इसलिए है; क्योंकि मनुष्य जन्म ग्रहण करता है। मनुष्य के जन्म ग्रहण करता है। मनुष्य के जन्म ग्रहण करने की इस अवस्था को ही बौद्ध दर्शन में 'जाति' कहा गया है। उत्पन्न होना ही 'जाति' है। 'जाति' पंचस्कन्धों के स्फुरण की अवस्था है। 'मज्झिम निकाय में भगवान कहतें है कि– ''उन–उन सत्वों का उस–उस सत्वनिकाय में जाति, सज्जाति, अवक्रांति, अभिनिर्वृत्ति स्कन्धों को प्रार्दुभाव और आयतनों को प्रतिलाभ यही जाति है''

2.3.2 भव

जाति अकारण नहीं है। जाति का कारण 'भव' है। होना मात्र भव है अर्थात् पुनर्जन्म कराने वाला कर्म भव कहलाता है। यह दो प्रकार का है– उत्पत्ति भव और कर्म भव। जो कर्म पुनर्जन्म कराने वाले होते हैं, उन्हें 'कर्मभव' कहते हैं। सत्व जिस–जिस उपादान को लेकर जिस–जिस लोक जन्मता हैं वह 'उत्पत्ति भव' कहलाता है। इस प्रकार बुद्ध की देशना में 'भव' जन्म ग्रहण कराने की प्रवृत्ति है; जिसके अभाव में किसी प्राणी का जन्म नहीं हो सकता।

2.3.3 उपादान

उपादान वह है; जिसमें विषयों को दृढ़तापूर्वक ग्रहण किया जाता है। बौद्ध दर्शन में जन्म ग्रहण करने की प्रवृत्ति का कारण उपादान बताया गया है। उपादान में विषयों से चिपके रहने की उत्कट इच्छा होती है। उपादान चार प्रकार का है–

1. कामोपादान – काम वासनाओं से चिपटे रहना।
2. दृष्ट्युपादान – मिथ्या सिद्धान्तों में विश्वास।
3. शील व्रतोपादान – व्यर्थ के शीलाचार में लगे रहना।
4. आत्मवादोपादान – आत्मा के अस्तित्व में दृढ़ आग्रह करना।

2.3.4 तृष्णा

उपादान का कारण 'तृष्णा' है। तृष्णा विषयों के भोग करने की वासना है। तृष्णा षड्विषयों के प्रति आसक्ति का होना है। यह तीन प्रकार की बतायी गयी है– (1) काम (2) भव और (3) विभव। यह त्रिविध तृष्णा ही सत्व को भव–चक्र में घुमाने वाली होती है। अतएव बुद्ध का यह मानना है कि उपादान तृष्णाजन्य है और विषय भेद से यह छः प्रकार की होती है।

2.3.5 वेदना

महात्मा बुद्ध ने इस प्रश्न पर विचार कि यह 'तृष्णा' होती ही क्यों है? इस प्रश्न के उत्तर की खोज में बुद्ध ने यह पाया कि तृष्णा का कारण इन्द्रिय–विषय संयोग से उत्पन्न 'वेदना' है। इस वेदना के अभाव में तृष्णा का होना असंभव है। वास्तविकता यह है कि वेदना का अर्थ अनुभव करना है। इन्द्रिय विषय संयोग से मन पर जो प्रथम प्रभाव पड़ता है; उसी का नाम वेदना है। मन से वेदना का अटूट सम्बन्ध है। वेदना भी तीन प्रकार की होती है– सुख वेदना, दुःख वेदना और असुख दुःख वेदना। वेदना के कारण ही व्यक्ति में विषयों के भोग की वासना उत्पन्न होती है।

2.3.6 स्पर्श

वेदना भी अकारण नहीं है। वेदना का कारण 'स्पर्श' है। इन्द्रिय और विषय के सन्निपात को 'स्पर्श' कहते हैं। यह वह अवस्थाा है, जब सत्व बाह्य जगत के पदार्थो के सम्पर्क में आता है। यह पंचेन्द्रिय और मन इन छः भेदों के कारण छः प्रकार का होता है। वस्तुतः इन्द्रियों के साथ विषयों का सम्पर्क होना ही स्पर्श है।

2.3.7 षडायतन

'स्पर्श' का कारण 'षडायतन' है। 'षडायतन' से तात्पर्य है– छः आयतन अर्थात पाँच इन्द्रियाँ और 'मन' षडायन कहलाते है। ये षडायतन ही ज्ञानोत्पत्ति में सहायक होते हैं। यह षडायतन उस अवस्था का सूचक है, जब सत्व माता के उदर से बाहर आता है और उसकी छः इन्द्रियाँ आँख, कान, नाक, जिह्वा, स्पर्श और मन पू.तिया विकसित तो हो गयी है; किन्तु वह अभी तक बाह्य विषयों के सम्पर्क में नही आ सकी है।

2.3.8 नाम–रुप

महात्मा बुद्ध ने षडायतन के भी कारण पर विचार किया और यह पायाय कि 'षड्यातन' का कारण 'नाम–रुप' है। नाम रुप में दो शब्द हैं– नाम और रुप। नाम में संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान ये चार स्कन्ध आते हैं और रुप में पृथ्वी जल, तेज और वायु ये चार महाभूत आते हैं। दोनो को मिलाकर ही पंचस्कन्ध नाम रुप कहलाते हैं। रुप औदारिक होते है और नाम क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हैं। नाम को मानसिक धर्म भी कहते हैं और 'रुप' शारीरिक धर्म कहे जाते हैं। क्योंकि

रुप से ही सत्व की काया की संरचना होती है। नाम रुप विज्ञान से होता है। जब विज्ञान (चित्त) माता के गर्भ से प्रतिसन्धि ग्रहण करता है, तभी से नाम–रुप उत्पन्न होना शुरु हो जाते हैं।

2.3.9 विज्ञान

नाम–रुप भी तभी संभव है; जब विज्ञान प्रत्युत्पन्न जीवन संभव हो। जब प्राणी माता के गर्भ में प्रवेश करता है और चेतना प्राप्त करता है, तो वह अवस्था चैतन्य या विज्ञान की होती है। 'विज्ञान' से तात्पर्य ऐसी चित्तधाराओं से है, जो पूर्वजन्म में किये गये कुशल या अकुशल कर्मों के विपाक स्वरुप प्रकट होती है और जिनके कारण ही सत्व अपनी इन्द्रियों के विषय में जानकारी प्राप्त करता है। अतएव नामरुप का कारण विज्ञान या चेतना है।

2.3.10 संस्कार

विज्ञान का कारण 'संस्कार' या 'संस्कारों' के रुप में संचित पूर्व में किये गये संचित कर्म की प्रवृत्तियाँ है। वास्तविकता यह है कि संस्कार पूर्व जन्म की कर्मावस्था है। अविद्यावश सत्व जो भी भला–बुरा कर्म करता है; वही संस्कार कहलाता है। आचार्य बुद्धघोष का कहना है कि– ''संस्कृत प्रत्युत्पन्न धर्मो का अभिसंस्कार करने वाली लौकि कुशल और अकुशल चेतना को ही संस्कार कहते हैं'

2.3.11 अविद्या

गौतम बुद्ध की देशना में संस्कार का कारण 'अविद्या' है। अविद्या का अर्थ है– प्रायः चार आर्य सत्यों का अज्ञान ही अविद्या है। अनित्य दुःख और अनात्मभूत जगत में सुख या आत्मा को खोजना ही अविद्या है। आचार्य बुद्धघोष अपनी अन्यतम रचना 'विसुद्धिमग्ग' के 'प्रज्ञाभूमि' नामक अध्याय में अविद्या की व्याख्या करते हुए कहतें हैं कि– ''यह अविद्या की स्कन्धों की राशि होने, आयतनों के आयतन होने, धातुओं के शून्य होने, इन्द्रियों के अधिपत्ति होने के कारण सत्य के यथार्थ ज्ञान को नहीं कराती हैं। प्रतीतत्यसमुत्पाद धर्मो के ढकने के कारण भी यह अविद्या कहलाती है।

अविद्या संसार का मूलकारण भी नहीं कही जा सकती; क्योंकि भगवान ने स्वयं मज्झिम निकाय में कहा है कि अविद्या का कारण 'आस्रव' है अर्थात आस्रव से ही अविद्या उत्पन्न होती है और फिर संस्कार, भव आदि समस्त दुःखों का उत्पाद होता है। अतः अविद्या के मूल में आस्रव है और आस्रव के मूल में अविद्या। इस प्रकार यह भव चक्र चलता है।

2.4 सम्पूर्ण दुःख स्कन्ध का समुदाय ही प्रतीत्यसमुत्पाद है

वास्तविकता यह है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त के द्वारा संसार के सभी सत्व नियमित हैं।सम्पूर्ण दुःख स्कन्ध का समुदाय ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। यह समुत्पाद ही जगत् की उत्पत्ति को स्पष्टतः द्योतित करता है। इसीलिए महात्मा बुद्ध सम्पूर्ण दुःखों के मूल कारण की खोज में 'अविद्या' को मानते हैं। अविद्या ही संसार के सभी दुःखों की जननी है। अविद्या के कारण ही कोई व्यक्ति सांसारिक विषयों के क्षणिक दुःखद और अयथार्थ स्वरुप को वास्तविकता स्वरुप समझने की भूल करता है। यही कारण है कि बुद्ध अविद्या का कोई कारण नहीं बतलाते हैं।

2.5 वैभाषिक एवं सौतांत्रिक के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद को कारणता के सिद्धान्त के रुप में ग्रहण किया था। बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय वैभाषिक एवं सौतांत्रिक ने भी प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ कारण–कार्य सिद्धान्त के ही रुप में ग्रहण करते ह। परन्तु बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवादी समत्पुतपाद के सिद्धान्त को आभासमात्र न मानकर कारण से कार्य की उत्पत्ति को वास्तविकता उत्पत्ति के रुप में स्वीकार करते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सर्वास्तिवाद यक मानता है कि कार्य के होने के पहले कारण का होना अनिवार्य है। कार्य उत्पन्न होता है और उसकी सत्ता भी वास्तविक है। सर्वास्तिवाद में प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है– प्रतिरुप विनाशशील धर्म (प्रतीत्य) से वास्तविक उत्पत्ति (समुत्पाद) सर्वास्तिवाद में माना जाता है कि पूर्वांग कारण है और उत्तरांग कार्य है। सर्वास्तिवाद यह भी स्वीकार करता है कि कोई स्थायी कारण नहीं होता।

इस प्रकार बुद्ध ने दुःखों के कारण की खोज में प्रतीत्यसमुत्पाद के रुप में कारणता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। प्रतीत्यसमुत्पाद के इस सिद्धान्त को ही 'जरामरण–चक्र' संसार–चक्र, द्वादश–निदान–चक्र, और भव–चक्र भी कहा जाता है।यह द्वादश–निदान–चक्र, व्यक्ति के भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् तीनों जीवन में व्याप्त है। अविद्या एवं संस्कार का सम्बन्ध व्यक्ति के अतीत जीवन या भूत कालीन जीवन से है। विज्ञान नाम–रुप षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान एवं भव व्यक्ति के वर्तमान जीवन से सम्बन्धित है। जाति और जरामरण का सम्बन्ध व्यक्ति के भविष्यकालीन जीवन से है। द्वादश–निदान–चक्र का यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक मूलभूत कारण अविद्या का नाश नहीं होता है।

2.6 माध्यमिक या शून्यवाद के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद

शून्यवाद प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ सर्वास्तिवाद से भिन्न मानता है। शून्यवाद प्रतीत्यसमुत्पाद को अर्थात कारण कार्य को वास्तविक नहीं आभास के रुप में मानता है कि प्रतीत्यसमुत्पाद में केवल प्रतीति होती है; न कि वास्तविक उत्पत्ति। प्रतीत्यसमुत्पाद वास्तविक कारण कार्यवाद नहीं है। नागार्जुन ने कारण कार्यवाद का खण्डन किया है। नागार्जुन के अनुसार ने कारण कार्यवाद का खण्डन किया है। नागार्जुन के अनुसार कोई पदार्थ न तो कभी और कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकता है न दूसरे कारण से उत्पन्न हो सकता है, न अपने और दूसरे दोनों के कारण से उत्पन्न हो सकता है और न बिना कारण के उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद को शून्यता कहते हैं। नागार्जुन का मानना है कि प्रतीत्यसमुत्पाद सापेक्षता तथा स्वभाव शून्यता का सिद्धान्त है। नागार्जुन के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद और शून्यवाद का वास्तविक अर्थ है कि घटनाँ, जो प्रतीत होती हैं सत्य नहीं है। जब वे सत्य नहीं है तो वे केवल प्रतीति हैं। ऐसी स्थिति में सभी वस्तुएं निःस्वभाव हैं। महात्मा बुद्ध के द्वादश निदान में एक निदान की सत्ता दूसरे पर निर्भर है, इस आधार पर एक निदान को दूसरे निदान की अपेक्षा है अर्थात सभी निदान सापेक्ष हैं, कोई निदान स्वतंत्र नही है, यही सापेक्षवाद है। यदि कोई निदान स्वतंत्र नहीं है तो उसका अपना कोई सापेक्षतावाद भी नहीं है। इस अर्थ में भी प्रतीत्यसमुत्पाद निःस्वभाव का सिद्धान्त है। इसी कारणता के सिद्धान्त पर चूँकि विश्व की व्याख्या होती है। अतः इस आधार पर सम्पूर्ण संसार को निःस्वभाव कहा जाता है। संसार की प्रत्येक वस्तु निःस्वभाव भी है और सापेक्ष भी है।

नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या करते हुए प्रतीत्यसमुत्पाद के लिए आठ विशेषणों का प्रयोग करते हैं जो इस प्रकार हैं–(1) अनिरोध (2) अनुत्पाद (3) अनुच्छेद (4) अशाश्वत (5) अनेकार्थ (6) अनानार्थ (7) अनागम (8) अनिर्गम। इन आठों विशेषताओं के आधार पर उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि प्रतीत्यसमुत्पाद मेंन निरोध होता है, न उत्पाद होता है, न उच्छे होता है, न उसकी शाश्वत स्थिति है तथा उसमें एकता, अनेकता, अगति और निर्गति भी नहीं है। यही कारण है कि नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त को प्रपंचशून्यता का सिद्धान्त कहते हैं अर्थात बुद्धि के सभी विकल्प निःस्वभात्व के रुप में हो जाते हैं।

नागार्जुन शून्यवाद के तात्विक निरुपण में प्रतीतत्यसमुत्पाद के पारमार्थिक एवं व्यवहारिक दो रुपों का उल्लेख करते हैं। पारमार्थिक रुप में प्रतीतत्यसमुत्पाद आठ निषेधात्मक विशेषणों से विशिष्ट अजातिवाद है, जहाँ समस्त प्रपंचों का उपशम होता है। आठों विशिष्टताएं प्रपंय के अन्तर्गत आती हैं जिनका पारमार्थिक प्रतीतत्यसमुत्पाद में उपशमन हो जाता है। परन्तु पारमार्थिक प्रतीतत्यसमुत्पाद प्रपंच निषेधमात्र नहीं हैं। वह प्रपंचशून्य तत्व हैं वह शिव है, वह अखण्ड आनन्द रुप निर्वाण है। प्रतीत्यसमुत्पाद वास्तविक कारण कार्यवाद नहीं है, क्योंकि प्रतीतत्यसमुत्पाद परमार्थतः अनुत्पाद है। यहां संवृत्ति, व्यवहार, प्रतीति अविद्या और उपादान आदि प्रपंय का सर्वथा प्रहाण हो जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का व्यावहारिक रुप अवद्यिाजन्य जन्म मरण चक्र है। उत्पाद निरोध आदि प्रपंच है, किन्तु यह कारण कार्य भाव सापेक्ष है, बुद्धिविकल्पजन्य है, अविद्या प्रसूत है, अतः इसकी सत्यता व्यावहारिक या प्रतीतिक मात्र है।

2.7 विज्ञानवाद में प्रतीतत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त

विज्ञानवाद में प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ प्रवाह के रुप में ग्रहण किया गया है तथा विश्व निरन्तर प्रवाहशील माना गया है। संसार प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण विज्ञान को परतंत्र कहा जाता है, क्योंकि यह कारण कार्य नियम से नियंत्रित है। अविद्या और कर्म संस्कार के होते ही प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र चलने लगता है। विज्ञानवाद यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति के जन्म–जन्मान्तरों के अनित्य विज्ञानों का सन्तान (प्रवाह) आलय विज्ञान में चलता रहता है और इस प्रकार समस्त प्राणियों के क्षणिक विज्ञानों की अलग–अलग अनन्त धाराएं आलय विज्ञान में प्रवाहित होती रहती हैं। यही प्रतीत्यसमुत्पाद या जीवन मरण चक्र है।

2.8 बौद्ध दर्शन के प्रतीतत्यसमुत्पाद की विभिन्न भारतीयदार्शनिकों के द्वारा आलोचना

आचार्य शंकर द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद की आलोचना–

1. औत वेदान्ती आचार्य शंकर ने बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त की अलोचना करते हुए कहा है कि कार्य के क्षण में कारण का क्षण बीत जाता है। अतः इन दोनों में कारण–कार्य सम्बन्ध कैसे हो सकेगा? हमें यह मानना पड़ेगा कि कार्य कारण के अभाव में होता है अर्थात् बिना कारणय के होता है। अथवा यों कहें कि सत् कार्य असत् कारण से होता है, जो असंभव है।

2. यदि यह कहा जाय कि कार्य–कारण का नया रुप है, तो फिर क्षणिक बाद का विरोध होगा, क्योंकि कारण कार्य के क्षण में अर्थात दूसरे क्षण में

भी था। अथवा फिर एक ही क्षण में उत्पत्ति और विनाश दोनों ही एक साथय होते हैं, जो कि निरर्थक है।

3. यदि बौद्ध दार्शनिक कहें कि कार्य बिना कारण के होते हैं, तो अपने सिद्धान्त के विरुद्ध जाते हैं कि प्रत्येक कार्य का कारण होता है। यदि यह मान लिय जाय कि कारण और कार्य दोनों एक साथ हैं, तो कैसे माना जाएगा कि यह कारण है और यह कार्य है। कारण अपने क्षण में कारण रहता है। यदि यह कार्य के क्षण में भी ठहरे तो इसका तात्पर्य है कि कारण एक क्षण रहा और कार्यात्पत्ति करके विलुप्त हो गया, किन्तु इसे मान लेने पर बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद खण्डित हो जाता है।

2.8.1 न्याय – वैभाषिक क्षरा बौद्ध दर्शन की प्रतीत्यसमुत्पाद की आलोचना

बौद्ध दर्शन के अनुसार कार्य जब व्यक्त होता है, तो कारण विलुप्त हो जाता है। बीज कारण के नष्ट होने पर पौधा कार्य प्रकट होता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि कार्य कारण की असत् अवस्था का नाम है, किन्तु बीज का अभाव यह मिट्‌टी में लौंदे के अभाव के समान है क्योंकि एक अभाव और दूसरे अभाव में भिन्नता नहीं है। दोनों अभाव एक समान ही है। अतएव इससे यह मानना होगा कि बीज के अभाव से हमें घड़ा प्राप्त होता है अर्थात् किसी भी कारण के अभाव से कोई कार्य उत्पन्न होगा, जो उचित नहीं है। असत् से या तो कुछ भी उत्पन्न नहीं होगा या हर कोई कार्य उससे उत्पन्न होगा और इस प्रकार की प्रत्येक स्थिति को अयुक्तिसंगत तथा अनुचित माना जाएगा।

2.8.2 बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद का सांख्य दर्शन द्वारा खण्डन

सांख्य दर्शन बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त का खण्डन करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद जो कारणता का सिद्धान्त है इस सिद्धान्त में कारण कार्यता अन्वय व्यतिरेक के ज्ञान से अवगत नहीं हो सकती, क्योंकि जब करण है, तब कार्य नही और जब कार्य है तो कारण नहीं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जब कार्य नही है, तब कारण है और जब कारण नहीं है तब कार्य है। बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद में यह भी जाना नही जा सकता है कि कारण–कार्य का नियत पूर्ववर्ती है। वास्तविकता यह है कि बौद्ध दर्शन के 'प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त' कारणता का सापेक्षवादी सिद्धान्त है, जिसमें कारण–कार्य परस्पर आश्रित हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद में कारण–कार्य में आश्रय–आश्रित भाव का सम्बन्ध है। आश्रित–आश्रय भाव का अर्थ है कि प्रत्येक अभिव्यक्ति अपने गुणात्मक स्वरुप में अपने पूर्ववर्ती उन्हीं तत्व समुदायों पर निर्भर करती है तथा उन्हीं गुणों को अभिव्यक्ति भी करती है जो मूलतः उन समुदायों में पहले से विद्यमान रहती है। अर्थात कार्य की अभिव्यक्ति के समय उसी क्रियात्मक पूर्ण रुप से इन मौलिक तत्वों का रुपान्तरण मात्र है, जो आधाररुप में इस अभिव्यक्ति को आश्रय प्रदान करते हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक नवीन रुपान्तरण में अपनी अभिव्यक्ति में अपने पूर्ववर्ती स्वरुप पर अपनी निर्भरता व्यक्त करता है। इस निर्भरता के आधार पर ही नये स्वरुप को कार्य और उसके पूर्ववर्ती स्वरुप को कारण मान लिया जाता है। रुपान्तरण की यह प्रक्रिया क्रमिक और श्रृखंलाब) होती है, जिससे कार्य के गुणों एवं गति के आधार

पर कारण के स्वभाव का निरुपण किया जा सकता है, जैसे– द्रव्य और ऊर्जा के विभिन्न रुपान्तरण क्रमशः कारण–कार्य के रुप में अपने पूर्ववर्ती द्रव्य या ऊर्जा के स्वरुप पर अपनी निर्भरता को ही व्यक्त करते हैं।

2.9 प्रतीत्यसमुत्पाद का महत्व और आधुनिक वैज्ञानिक युग में उसकी उपादेयता

प्रो. संगम लाल पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'भारतीय तर्कशास्त्र का आधुनिकपरिचय' में प्रतीत्यसमुत्पाद को गणितशास्त्र तथा भौतिकी में उपयोगी बताया है। उन्होंने बताया है कि बौद्ध मत का कारण–कार्य भाव आश्रिताश्रयभाव (Functional Dependence) है। अर्थात जब कोई वस्तु उत्पन्न होती कही जाती है, तो वास्तव में उसकी उत्पत्ति का अर्थ नियमपूर्वक अपने पूर्ववर्तियों का आश्रय लेना है। डॉ0 पाण्डेय जी ने आधुनिक दार्शनिक रसल का सन्दर्भ देते हु, बताया है कि रसल का कहना है कि आधुनिक भैतिकी और खगोल विद्या के कारण के सम्प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता है, क्योंकि कारण है ही नहीं। कारण के सम्प्रत्यय को आश्रिताश्रय के सम्प्रत्यय में बदल दिया गया है। उनका कहना मानना है कि कार्य–कारण भाव का आश्रिताश्रय भाव में रुपान्तरण गणितशास्त्र की बहुंत बड़ी उपलब्धि है। कार्य–कारण भाव का सम्बन्ध द्रव्य के परिवर्तन से है, जबकि आश्रित आश्रयाभाव गुणों के समुदाय से सम्बन्धित है। कार्य–कारण भाव का आधुनिक, गणित, भौतिकी आदि से निराकरण बतलाता है कि वास्तव में द्रव्य के सम्प्रत्यय की आवश्यकता नहीं है। इसने द्रव्य के सम्प्रत्यय का ही निराकरण कर दिया है। बौद्धों के इस विषय में विचार कितने प्रासंगिक हैं, इस विषय में यह कहा जा सकता है कि ''इस संदर्भ में बौद्ध दार्शनिकों के विचार आज में उतने ही आधुनिक हैं; जितना पहले कभी था।'' वस्तुतः बौद्ध दार्शनिकों के प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त जिसे कारणता का सिद्धान्त कहा जाता है, भारतीय तर्कशास्त्र की महत्ता को दर्शाता है। यद्यपि बौद्ध दार्शनिकों के कारणता का सिद्धान्त आज उतना युक्ति संगत नही है। जितना आज के वैज्ञानिकों ने इस सिद्धान्त को प्रस्तुंत किया है जिसे पश्चिम के तर्कशास्त्रों और वैज्ञानिक केवल बीसवीं शदी में कर पाये हैं। इस सिद्धान्त की श्रेष्ठता के विषय में यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त सभी अन्य सिद्धान्तों से श्रेष्ठ है, किन्तु यह केवल वैज्ञानिक गवेषणा और आलोचना में उपयोगी है।

2.10 निष्कर्ष

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद कारणता का सापेक्षवादी सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार कारणता घटनाओं की एक सन्तति है जिसमें कुछ उपाधियों के होने पर कोई घटना उत्पन्न होती है और यह सन्तति तब तक चलती रहती हे जब तक ये उपाधियाँ बनी रहती है। प्रतीत्यसमुत्पाद को माध्यमा–प्रतिपद या मध्यम मार्ग भी कहते हैं; क्योंकि यह श्वाश्तवाद एवं उच्छेदवाद रुपी दो एकान्तिक दृष्टिकोणों के बीच का मार्ग है। इस प्रकार बुद्ध ने अपने प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के महत्व को स्पष्ट करते हुए इसका तादात्म्य धर्म से किया है। उनके अनुसार आदि एवं अंत का विचार निरर्थक है। मै धम्म (धर्म) का उपदेश देता हूँ। ऐसा होने पर वैसा होता है। इसके न होने पर यह नहीं होता है। जो प्रतीतत्यसमुत्पाद को समझता है, वह धर्म को समझता है और जो धर्म को समझता

है वह प्रतीत्यसमुत्वाद को समझता है। परन्तु महात्मा बुद्ध यह बतलाने में असफल रहते हैं कि समस्त दुःखों का मूलभूत कारण अविद्या का कारण क्या है?

2.11 सारांश

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध दर्शन का केन्द्रीय सम्प्रत्यय है। प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त में यह स्पष्ट किया गया है कि संसार में कोई भी घटना अकारण घटित नहीं होती है। किसी वस्तु के होने पर ही अन्य वस्तु की उत्पत्ति होती है। इसलिए यह सिद्धान्त कारणता का सापेक्षतावादी सिद्धान्त के रुप में प्रचलित है। महात्मा बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त में सांसारिक दुःखों के मूल कारण को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। समस्त चेतनामय जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध एवं पारस्परिक निर्भरता को व्यक्त करने वाला इस सिद्धान्त में द्वादश कड़ियाँ हैं; जो इस प्रकार हैं– जरा–मरण, जाति, भव, उपादान, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षडायतन, नाम–रुप, विज्ञान, संस्कार एवं अविद्या। इस द्वादश कड़ियों की श्रृंखला को जरा–मरण चक्र, संसार चक्र, द्वादश निदान चक्र और भव चक्र भी कहा जाता है। इस द्वादश निदान के द्वारा महात्मा बुद्ध दुःखों के मूल कारण को खोजने का प्रयास किया है; जिससे मानव के निर्वाण का मार्ग प्रशस्त हो सके।

2.12 बोध प्रश्न

1. बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए?
2. बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद कारणता का सापेक्षवादी सिद्धान्त है। समीक्षात्मक विवेचन कीजिए?

2.13 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण– प्रो0 संगल लाल पाण्डेय
2. भारतीय दर्शन– चटर्जी एवं दत्त

****

इकाई–3

क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद

<u>इकाई की रुपरेखा</u>

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 क्षणिकवाद सिद्धान्त से महात्मा बुद्ध का आशय

3.3 क्षणिकवाद अनित्यवाद का ही तार्किक विकास है

3.4 बौद्ध दर्शन का अनित्यतावाद का सिद्धान्त मध्यम मार्ग है।

3.5 गौतम बुद्ध के अनुयायियों द्वारा क्षणिकवाद की व्याख्या

3.6 संसार में सब कुछ क्षणिक है

3.7 सर्वास्तिवाद में क्षणिकवाद की व्याख्या

3.8 अनात्मवाद

3.8.1 पुदगल

3.9 बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद के प्रति अन्य भारतीय दर्शन का दृष्टिकोण

3.10 निष्कर्ष

3.11 सारांश

3.12 बोध प्रश्न

3.13 उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त ही बौद्ध दर्शन के अनित्यवाद के सिद्धान्त के रुप में प्रतिफलित होता है। बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद अनित्यवाद का ही तार्किक विकास है। इस सिद्धान्त में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि संसार परिवर्तन का एक प्रवाह है घटनाओं एवं विचारों का प्रवाह मात्र है, जिसमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। जीवन परिवर्तन की अभिव्यक्तियों की श्रृंखलामात्र है। महात्मा बुद्ध ने संसार के सभी पदार्थो को आत्मा को एवं अन्यान्य सांसारिक वस्तुओं को संभूति (Becoming) प्रक्रिया एवं परिवर्तन (Change) के रुप में देखा है।

3.1 प्रस्तावना

महात्मा बुद्ध अपने द्वितीय आर्य सत्य प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि संसार में प्रत्येक वस्तु कारणानुसार होती है। कारण के विनष्ट होने पर वस्तु का भी विनाश हो जाता है। इससे यह प्रतिफलित होता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु अनित्य है। संसार में सर्वत्र अनित्यवाद का ही साम्राज्य है। वस्तुतः बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त ही अनित्यवाद में प्रतिफलित होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नही है जो परिवर्तनशील न हो। परिवर्तित होना विश्व की लाक्षणिक विशेषता है। बौद्ध दर्शन के अनित्यवाद के अनुसार विश्व की प्रत्येक वस्तु अनित्य है, चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन। बुद्ध ने अनित्यवाद की व्याख्या करते हुए कहा है कि ''जो बुद्ध हो सकता है, वह बुद्ध होकर ही रहेगा, जिसे रोगी होना है वह रोगी होकर ही रहेगा, जो मृत्यु के अधीन है, वह अवश्य मरेगा, जो नाशवान् है, उसका नाश अत्यावश्यक है।'' धम्मपद में कहा गया है कि– ''जो नित्य तथा स्थायी मालूम पड़ता है, उसका भी पतन है।''

3.2 क्षणिकवाद सिद्धान्त से महात्मा बुद्ध का आशय

महात्मा बुद्ध ने स्वयं बौद्ध दर्शन के अनित्यतावाद सिद्धान्त की स्थापना किया। बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद अनित्यतावाद का ही तार्किक विकास है। अनित्यतावाद शा'वतवाद और उच्छेदवात का ही मध्यम मार्ग है। महात्मा बुद्ध ने यह स्पष्ट किया है कि– प्रत्येक वस्तु सत् है' यह एक प्रकार का एकान्तिक मत है और ''प्रत्येक वस्तु असत् है' यह दूसरे प्रकार का एकान्तिक मत है। इन दोनों ही एकान्तिक मतो का परित्याग कर महात्मा बुद्ध ने मध्यमम मार्ग का उपदेश दिया है। मध्यम मार्ग का सिद्धान्त यह है कि जीवन परिवर्तनशील है। जीवन को परिवर्तनशील कहकर बुद्ध ने सत् एवं असत् का समन्वय किया है। वास्तविकता यह है कि बुद्ध के अनित्यतावाद के सिद्धान्त को उनके अनुयायियों ने क्षणिकवाद में परिवर्तित कर दिया है। महात्मा बुद्ध ने यह स्पष्ट रुप से उपदेश दिया था कि संसार की सभी वस्तुएं उत्पत्ति एवं विनाश के अधीन होने के कारण स्वभाव से अनित्य हैं। महापरिनिर्वाण सूत्र के अनुसार जितनी वस्तुएं हैं, उन सब की उत्पत्ति कारणानुसार हुई है। ये सभी सब प्रकार से अनित्य हैं। बुद्ध की देशना के अनुसार संसार मे कुछ भी स्थायी या नित्य नहीं है। यहाँ तक कि आत्मा की भी नित्य सत्ता नहीं है। परन्तु महात्मा गौतम बुद्ध ने स्वयं ही अस्थायित्व एवं क्षणिकत्व में भेद किया है। महात्मा बुद्ध ने आत्मा को क्षणिक तथा भौतिक वस्तुओं को अनित्य कहा है। धम्मपद में यह स्पष्टतः कहा गया है कि ''जो नित्य तथा स्थायी मालूम पड़ता है वह भी विनाशी है। जो महान मालूम पड़ता है उसका भी पतन है जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी है। जहाँ जन्म है, वहाँ मरण भी है।''

3.3 क्षणिकवाद अनित्यवाद का ही तार्किक विकास है

बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद अनित्यवाद का ही तार्किक परिणीत है। महात्मा बुद्ध के अनित्यवाद सिद्धान्त को उनके अनुयायियों ने क्षणिकवाद में परिवर्तित कर दिया है। गौतम बुद्ध की देशना में प्रत्येक वस्तु अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। संसार में सर्वत्र परिवर्तनशीलता एवं अस्थायित्व ही विद्यमान है। वास्तविकता यह है कि संसार परिवर्तन का एक प्रवाह है, घटनाओं एवं विचारों का प्रवाह मात्र है, जिसमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। जीवन परिवर्तन की अभिव्यक्तियों की

श्रृखंला मात्र है। संसार की प्रत्येक वस्तु परतंत्र, आश्रित, सापेक्ष तथा प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण अनित्य तथा अस्थायी है। महात्मा बुद्ध ने पदार्थो को, आत्मा को एवं अन्यान्य सांसारिक वस्तुओं को संभूति प्रक्रिया एवं परिवर्तन के अधीन माना है। बौद्ध दर्शन में परिवर्तन एवं अनित्यता को स्पष्ट करने के लिए अग्नि की ज्वाला एवं नदी की धारा के उदाहरण को दिया गया है। बौद्ध दर्शन यह उदाहरण देता है कि अग्नि की ज्वाला या दीपक की लौ अपरिवर्तित प्रतीत होती है किन्तु वह प्रत्येक क्षण में वही नहीं है अपितु अन्य ज्वाला या लौ ही है। इन ज्वालाओं या लौ के निरन्तर प्रवाह के कारण उनमें एकता की प्रतीति होती है। नदी की धारा अपने प्रवाह में एक समान प्रवाह को स्थिर रखती हुई प्रतीत होती है यद्यपि प्रतिक्षण नयी जलराशि आ रही होती है। यद्यपि नदी की धारा में एक जलराशि दूसरी जलराशि के समान है, किन्तु वही नहीं। प्रवाह की निरन्तरता के कारण समानता के स्थान पर एकता की प्रवाह की अनवच्छिन्नता के स्थान पर नित्यता की कल्पना कर ली जाती है। जो एक भ्रान्ति है। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ अनित्य एवं परिवर्तनशील है। आत्मा भी क्षणिक विज्ञानों का प्रवाहमात्र है। संसार में परिवर्तन एवं प्रवह में सातत्य है। इसलिए उसमें एकता एवं नित्यता की भ्रान्ति होती है।

3.4 बौद्ध दर्शन का अनित्यतावाद का सिद्धान्त मध्यम मार्ग है।

बौद्ध दर्शन का अनित्यतावाद का सिद्धान्त 'मध्यम मार्ग' है। यह शाश्वत एवं उच्छेदवाद के मध्य का मार्ग है। संयुक्तनिकाय में महात्मा बुद्ध के उपदेश के रुप में यह विचार व्यक्त किया गया है कि– ''यह संसार सत् एवं असत् के द्वैत पर आधारित है। 'यह सत् है' एक प्रकार का अतिवाद है और यह असत् है दूसरे प्रकार का अतिवाद है। सत्य सत् और असत् का समन्वित रुप है, जिसे बुद्ध ने 'संभूति' कहा है। महात्मा बुद्ध द्वारा सभी वस्तुओं को निरन्तर परिवर्तनशील मानने और उनकी पृष्ठभूमि में स्थायी सत्ता का निषेध करने के कारण अनित्यवाद, शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के बीच कोई भी ऐसी सत्ता नहीं है, जिससे स्थायी सत्ता के रुप में मान्यताय दी जाए। अतएव निरन्तर होने वाला यह परिवर्तन ही संभूति के रुप में सत् है। निरन्तर के प्रवाह को सत् के रुप में वर्णित करने वाला बौद्ध दर्शन का यह अनित्यतावाद का सिद्धान्त ग्रीक दर्शन में हेराक्लाइट्स के विचारों से और समकालीन दर्शन में हेनरी वर्गसा। तथा ह्वाइटेक के विचारों से मेल खाता है। ग्रीक दार्शनिक हेराक्लाइट्स ने कहा था कि ''परिवर्तन इतना शीघ्रतापूर्वक हो रहा है कि हम एक नदी की धारा में दो बार स्नान नहीं कर सकते।'' बर्गसां कहते हैं कि 'सत्ता ऐसी वस्तु नहीं है, जो परिवर्तनशील है, अपितु स्वयं परिवर्तन ही सत्ता है। ह्वाइटहेड का कथन है कि– ''हम जिस वस्तु को जिस समय देखते हैं वह उसी समय बदल जाती है। पाश्चात्य दार्शनिकों की ही भांति गौतम बुद्ध भी यही कहते हैं कि ''सत्ता स्थायी न होकर अनित्य एवं परिवर्तनशील है।''

3.5 गौतम बुद्ध के अनुयायियों द्वारा क्षणिकवाद की व्याख्या

महात्मा बुद्ध के अनित्यवाद के सिद्धान्त को उनके अनुयायियों ने क्षणिकवाद में परिवर्तित कर दिया। वास्तविकता यह है कि 'कोई वस्तु क्षणिक है' और कोई वस्तु अनित्य है दोनों स्थापनाएं परस्पर भिन्न हैं। 'सांसारिक वस्तुएं अनित्य हैं, गौतम बुद्ध के इस सिद्धान्त का तार्किक विकास क्षणिकवाद है। महात्मा बुद्ध के अनुयायियों ने उनके अनित्यवाद को क्षणिकवाद में परिवर्तित करके आत्मा

के क्षणिक स्वरुप को अस्तित्वमात्र तक सीमित करके सभी वस्तुओं को क्षणिक मान लिया। क्षणिकवाद का अर्थ केवल यह नहीं है कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व क्षण भर के लिए ही रहता है। क्षणिकवाद का अर्थ है,' किसी वस्तु का उसकी उत्पत्ति के तुरन्त बाद विनाश'। वह वस्तु जो अपनी उत्पत्ति के बाद तुरन्त नष्ट हो जाती है, क्षणिक कहलाती है। वस्तुतः क्षणिक स्वभाव और वह वस्तु, जिसमें इसके होने की बात की जाती है, एक ही है। क्षणिक स्वभाव ही क्षणिक वस्तु है और क्षणिक स्वभाव और क्षणिक वस्तु में भेद करना बुद्धि की उपज है।

3.6 संसार में सब कुछ क्षणिक है

बौद्ध दर्शन के अनुसार 'सर्व क्षणिकम्' अर्थात सब कुछ क्षणिक है। संसार में केवल क्षणिक धर्मों का प्रवाह है। ये धर्म दो प्रकार के हैं– चेतन धर्म, जिसे विज्ञान कहा जाता है और अचेतन धर्म जिसे भौतिक परमाणु कहा जाता है। इन क्षणिक विज्ञानों की और इन क्षणिक परमाणुओं की अलग–अलग धाराएं निरन्तर प्रवाह में पूर्वगामी क्षणिक धर्म कारण हैं और उत्तरगामी क्षणिक धर्म कार्य हैं। कारण क्षण उत्पन्न होते ही कार्य क्षण को जन्म देकर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार प्रतिक्षण इन क्षणिक धर्मों का उत्पाद–विनाश होता रहता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार किसी वस्तु की सत्ता कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति पायी जाती है। बौद्ध दर्शन में कहा गया है कि 'अर्थक्रियाकारित्वं लक्षणं सत्' अर्थात किसी वस्तु में अन्य वस्तु को स्थायी एवं नित्य मान लिया जाए, तो उसमें किसी वस्तु को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः 'सत्' संसार के पदार्थों की व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन करने की क्षमता है। अंकुर की सत्ता है, क्योंकि उसमें अंकुर उत्पन्न करने की क्षमता है। अंकुर की सत्ता है, क्योंकि उसमें तने को उत्पन्न करने की क्षमता है इत्यादि। इस प्रकार सत्ता वस्तु में परिवर्तन लाने की यह क्षमता नहीं पायी जाती है। यदि वस्तुओं में भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् काल में परिवर्तन नहीं होता, तो वे भिन्न–भिन्न समयों में भिन्न–भिन्न प्रकार के कार्य कैसे करतीं? यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि संभाव्य शक्ति तो स्थायी है और यह अन्य शर्तों के पूरी होने पर वास्तविक रुप में आ जाती है, तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि जिसके अन्दर किसी कार्य को करने की शक्ति होती है, वह उसे कर देता है। यदि वह वैसा नहीं कर सकता तो उसमें शक्ति होती है वह उसे कर देता है। यदि वह वैसा नहीं कर सकता तो उसमें शक्ति नहीं हो सकती। यदि अवस्थाओं के कारण परिवर्तन होता है, तो केवल उन्हीं अवस्थाओं के कारण परिवर्तन होता है, तो केवल उन्हीं अवस्थाओं का अस्तित्व है और उन अवस्थाओं से भिन्न स्थायी वस्तुओं का अस्तित्व है और उन अवस्थाओं से भिन्न स्थायी वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार यदि अस्तित्व से तात्पर्य कार्य कारणभाव की क्षमता है, तो जो सत् है, वह क्षणिक ही हो सकता है–'यत–सत् तत्क्षणिकम'। बौद्ध दर्शन के अनुसार क्षणिकत्व का यह विचार केवल बीज पर ही लागू नहीं होता है, अपितु संसार की सभी वस्तुओं पर लागू होता है। बौद्ध दर्शन क्षणिकवाद के सिद्धान्त के द्वारा यह प्रतिपादित करता है कि संसार की सभी वस्तुएं क्षणिक एवं परिवर्तनशील हैं।

3.7 सर्वास्तिवाद में क्षणिकवाद की व्याख्या

बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवादी हीनयानी शाखा के वैभाषिक एवं सौतांत्रिक दार्शनिक क्षणिकवाद को लेकर दो प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं– 'सर्व क्षणिकम्'

और 'सर्व अनात्मकम'। 'सर्व क्षणिकम्' के अनुसार केवल क्षणिक क्षर्मों की ही सत्ता है। क्षणिक धर्मों की धारा निरन्तर प्रवाहित हो रही है। इसे 'सन्तानवाद' कहते हैं। ये धर्म दो प्रकार के हैं। चेतन एवं भौतिक परमाणु। ये दोनों परस्पर स्वतंत्र एवं सत् हैं। चेतन धर्म विज्ञान कहलाते हैं और जड़ धर्म भौतिक परमाणु। इन क्षणिक विज्ञानों एवं क्षणिक भौतिक परमाणुओं की अलग–अलग धाराएं प्रवाहित हो रही हैं।

'सर्व' अनात्कम' के द्वारा बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवादी हीनयानी शाखा के वैभाषिक एवं सौतांत्रिक सम्प्रदाय के दार्शनिक यह स्पष्ट करते हैं कि संसार में कोई नित्य द्रव्य है और न भौतिक पदार्थ नामक जड़ द्रव्य। द्रव्यता, एकता, तादात्म्य, नित्यता आदि मानसिक उपज मात्र हैं। सत् केवल क्षणिक धर्म हैं। ये क्षणिक धर्म मिलकर अपने संघात बनाते रहते हैं जो निरन्तर परिवर्तशील हैं। इसे संघातवाद कहते हैं। वास्तविकता यह है कि बौद्ध दर्शन में पाँच स्कन्ध माने जाते हैं– रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। इनमें रुप स्कन्ध भौतिक है, जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणुओं से बनता है, शेष चारों स्कन्ध मानसिक हैं। इन क्षणिक पंच संघात को 'पुदगल' या 'आत्मा' कहते हैं और क्षणिक परमाणु संघात को भौतिक पदार्थ। किन्तु ये दोनों संघात उपचार मात्र हैं। दोनों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं हैं। वास्तविक सत्ता क्षणिक विज्ञानों एवं क्षणिक परमाणुओं की है, जिनका प्रवाह निरन्तर चल रहा है। कालान्तर में योगाचार विज्ञानवाद ने जड़ तत्व की प्रवाह को स्वीकार किया। योगाचार विज्ञानवादी इस बात पर बल दिया कि क्षणिक विज्ञान ही जड़ जगत के रुप में प्रतीत होते हैं। माध्यमिक शून्यवाद अपनी स्थापना में वस्तु के साथ विज्ञान को भी अस्वीकार कर देता है। वह सत्ता को प्रपंचशून्य और जगत् को स्वभावशून्य अनिर्वचनीय घोषित कर देता है।

3.8 अनात्मवाद

बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त से 'अनात्मावाद' प्रतिफलित होता है। अनात्मावाद को 'नैराम्यवाद' भी कहा जाता है। यद्यपि कुछ विचारकों का यह मानना है कि बौद्ध दर्शन का 'अनात्मवाद' का सिद्धान्त केवल आत्मा की व्याख्या से सम्बद्ध मान्यता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि इससे आत्मा एवं भौतिक जगत् दोनों की ही व्याख्या होती है। जब गौतम बुद्ध 'सर्व अनात्मकम्' कहते हैं तो इसका अर्थ है कि किसी नित्य चेतन या जड़ द्रव्य का अस्तित्व नहीं है। न तो आत्मा नामक नित्य द्रव्य का अस्तित्व है। द्रव्यता और न ही भौतिक पदार्थ नामक जड़ द्रव्य का अस्तित्व है। द्रव्यता, एकता, तादात्म्य एवं नित्यता आदि कल्पना मात्र हैं। सत् केवल क्षणिक धर्म हैं। ये क्षणिक धर्म मिलकर संघात बनाते रहते हैं। जो निरन्तर परिवर्तनशील हैं। बौद्ध दर्शन के पंच स्कन्ध हैं– रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। इनमें रुप स्कन्ध भौतिक हैं और शेष चारों स्कन्ध मानसिक हैं।

3.8.1 पुद्गल

बौद्ध दर्शन में क्षणिक पंच स्कन्ध संघात को 'पुद्गल' या 'आत्मा' कहते हैं और क्षणिक परमाणु संघात को 'भौतिक–पदार्थ'। ये दोनों संघात इसलिए अनात्म हैं, क्योंकि इनकी नित्य एवं स्थायी सत्ता नहीं है। वास्तविक सत्ता क्षणिक विज्ञानों एवं क्षणिक परमाणुओं की है, जिनका प्रवाह निरन्तर चल रहा है। व्यापक अर्थ में बौद्ध दर्शन के अनात्मावाद को इसी अर्थ में स्वीकार किया गया है। बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद का यह अर्थ नहीं है कि गौतम बुद्ध आत्मा के अस्तित्व का निषेध करते हैं। वास्तविकता यह है कि महात्मा बुद्ध परिवर्तनशील दृष्ट धर्मों के अतिरिक्त सिकी अदृष्ट अपरिवर्तनशील, नित्य वस्तु की सत्ता को नहीं स्वीकार किया है।

उन्होंने इसी के आधार पर आत्मतत्व का विश्लेषण किया और स्थायी एवं नित्य आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करते हुए अनात्मवाद का प्रतिपादन किया है। महात्मा बुद्ध आत्म तत्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि जब हम अपने आत्म तत्व का विश्लेषण करते हुए अन्दर की ओर देखते हैं, तो हमें सर्दी या गर्मी, प्रकाश या छाया, प्रेम या घृणा, सुख या दुःख आदि का ही अनुभव होता है। इसलिए नित्य आत्मा या जीव की कल्पना अनुचित एवं अनावश्यक होता है। इसलिए नित्य आत्मा या जीव की कल्पना अनुचित एवं अनावश्यक है। अनुभव से इन संवेदनों के अतिरिक्त किसी अपरिवर्तनशील एवं नित्य आत्मतत्व का ज्ञान नहीं होता। वस्तुतः क्षणिक विज्ञानों की निरन्तर धारा प्रवाहित होती रहती है। हम जिसे आत्मा कहते हैं, वह इन्हीं क्षणिक विज्ञानों की धारा का नाम है या परिवर्तनशील क्षणिक विज्ञानों का प्रवाहमात्र है। गौतम बुद्ध नित्य आत्मतत्व की सत्ता में हमारे साधारण विश्वास का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि– '' क्षणिक एवं परिवर्तनशील विज्ञानों की धारा निरन्तर प्रवाहित हो रही है। विज्ञानों की भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में एक सामान्य व्यापक तत्व है, जो विज्ञानों की निरन्तरता के रुप में आभासित होता है और इसे ही आत्मा कहा जाता है''

महात्मा गौतम बुद्ध अपने अनात्मवाद में किसी स्थायी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए यह भी स्वीकार करते थे कि जीवन विभिन्न क्रमबद्ध और अव्यवस्थित अवस्थाओं में एक प्रवाह या संतान है। विभिन्न अवस्थाओं की संतति को ही जीवन कहते हैं। इस संतति के अन्दर किसी अवस्था की उत्पत्ति उसकी पूर्ववर्ती अवस्था से होती है। इसी प्रकार वर्तमान अवस्था आगामी अवस्था को उत्पन्न करती है। जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में पूर्वापर कारण–कार्य सम्बन्ध रहता है। इसलिए सम्पूर्ण जीवन में एकबद्धता की प्रतीति होती है। जीवन की इस एकबद्धता को रात भर जलते हुए दीपक के द्वारा समझा जा सकता है। प्रत्येक क्षण की ज्योति दीपक के द्वारा समझा जा सकता है। प्रत्येक क्षण की ज्योति दीपक की तत्कालीन अवस्थाओं पर निर्भर होती है। क्षण–क्षण में दीपक की अवस्थाएं बदलती रहती हैं। अतएव प्रतिक्षण दीपक की ज्योति भी भिन्न–भिन्न होती है, किन्तु ज्योतियों के भिन्न–भिन्न होने पर भी वे बिल्कुल अविच्छिन मालूम पड़ती हैं।

महात्मा गौतम बुद्ध आत्मा के पुर्नजन्म की अवधारणा को भी दीपक के ही दृष्टान्त से ही स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। बुद्ध का कहना है कि जिस प्रकार की एक ज्योति से दूसरी ज्योति को प्रकाशित किया जा सकता है। किन्तु दोनों ज्योतियाँ एक नही समझी जा सकती हैं। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे से पृथक हैं। उनमें केवल अन्तिम अवस्था से भविष्य जीवन की प्रथम अवस्था की उत्पत्ति हो सकती है, किन्तु दोनों दो पृथक जीवन होगें। इस तरह पुनर्जन्म सर्वथा संभव है। हाँ पुनर्जन्म का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मा नित्य है और एक शरीर से दूसरे शरीर में उसका प्रवेश हो सकता है।

बौद्ध दर्शन पाश्चात्य दार्शनिक विलियम जेम्स की तरह आत्मा को विज्ञानों का प्रवाहमात्र मानता है। बौद्ध दर्शन विलियम जेम्स की ही भांति यह मानता है कि वर्तमान मानसिक अवस्था का कारण पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था है। इसलिए बिना आत्मा में विश्वास किये ही हम स्मृति का उत्पादन कर सकते हैं। महात्मा बुद्ध का यह स्पष्ट अभिमत है कि जो आत्मा के यथार्थ रुप को नही समझते हैं, उन्हीं का इसके विषय में भ्रान्त विचार रहता है। ऐसे व्यक्ति आत्मा को सत्य मानकर उससे आसक्त होते हैं। उनकी आकांक्षा रहती है कि मोक्ष को प्राप्त कर आत्मा को सुखी बनावें। बुद्ध कहते हैं कि किसी आदृष्ट, अश्रुत तथा सुन्दरी रमणी से प्रेम रखना

जिस प्रकार हास्यापद है उसी प्रकार अदृष्ट एवं अप्रमाणित आत्मा से भी प्रेम रखना हास्यापद है। आत्मा के प्रति अनुराग रखना मानो एक ऐसे प्रासाद पर चढ़ने के लिए सीढ़ी तैयार करना है, जिस प्रासाद को किसी ने कभी देखा तक नहीं है।

महात्मा बुद्ध के अनुसार मनुष्य एक समष्टि का नाम है। जिस प्रकार चक्र, धुरी, नेमि आदि के संघात को 'रथ' कहते हैं कि उसी प्रकार बाह्य रुपयुक्त शरीर, मानसिक अवस्थाएं और रुपहीन संज्ञा या विज्ञान के संघात को मनुष्य कहते हैं। जब तक इनकी समष्टि कायम रहती है तभी तक मनुष्य अस्तित्व रहता है और जब यह नष्ट हो जाती है इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। महात्मा बुद्ध का यह कहना है कि अन्य दृष्टि से भी मनुष्य पाँच प्रकार के परिवर्तनशील तत्वों का संघात है, जिसमें पहला स्कन्ध 'रुप' है। दूसरा स्कंध वेदना तीसरा स्कंध संज्ञा, चौथा स्कन्ध संस्कार और पाँचवा स्कन्ध विज्ञान है। इस संघात को कभी उपनिषद् की शब्दावली में नाम रुप भी कहा गया है।

3.9 बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद के प्रति अन्य भारतीय दर्शन का दृष्टिकोण

भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद के विरुद्ध व्यापक प्रतिक्रिया हुई। सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन का समकालीन जैन दर्शन क्षणिकवाद को अस्वीकार करता है। जैन दर्शन क्षणिकवादियों पर व्यंग करते हुए कहता है कि यदि बौद्ध दर्शन क्षणिकवाद को स्वीकार कर लिया जाय तो 'कृत्हनि और अकृत्लाभ के दोष, दुःख एवं निर्वाण में दोष से स्मृति नाश के दोष से कैसे बचा जा सकता है। क्षणिकवाद में आस्था रखने वाले बौद्ध दार्शनिक निश्चय ही अत्यन्त साहसिक हैं–

''कृतप्रणाशात्कृत्कर्म भोगभव मोक्ष स्मृतिभङ्गदोषम्'।

उपेक्ष्य साक्षात्–क्षणभङ्गमिच्छन अहो। महासाहसिक परस्तें।।''

उपर्युक्त श्लोक का तात्पर्य है कि क्षणिकवाद को स्वीकार करने पर कर्म का सिद्धान्त असंगत होता है; दुःख एवं निर्वाण के विचार में दोष आता है तथा स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या करना कठिन हो जाता है। आचार्य शंकर ने 'ब्रह्मसूत्र' पर लिखे गये अपने भाष्य में क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद की आलोचना करते हुए आत्मा की नित्य सत्ता पर बल दिया है। कुमारिल आदि मीमांसक भी बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद को अस्वीकार करते हैं। सामान्यतः क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद के विरुद्ध निम्नलिखित प्रश्न उठाये जाते हैं–

1. क्षणिक विषयों में कारणतत्व नहीं हो सकता। कार्योपत्ति के लिए कारण की सत्ता एक से अधिक क्षणों तक होनी चाहिए।

2. सामान्यतः बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद में किसी सन्तति का कभी अन्त नहीं होता ऐसी स्थिति में निर्वाण प्राप्त व्यक्ति या अर्हत में 'आत्म–'सन्तति' का समापन कैसे संभव होगा? पुनश्च वहीं सत्–है जिसमें अर्थाक्रियाकारी शक्ति हो। निर्वाण प्राप्ति व्यक्ति या अर्हत में अर्थक्रिया कारित्व निरुद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में या तो निर्वाण के आदर्श के अलभ्य समझकर त्यागना पड़ेगा या निर्वाण चाहने वाले की सन्तति को असत् मानना पड़ेगा। यदि निर्वाण प्राप्त करने वाला ही नहीं होगा तो कौन निर्वाण प्राप्त करेगा?

3. यदि सब कुछ क्षणिक है, तो दुःख भी क्षणिक होगा। अतएव उसे दूर करने के लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं होगी। इस प्रकार बौद्ध दर्शन की सम्पूर्ण नैतिक साधना 'अष्टांगिक मार्ग' निरर्थक और अनावश्यक हो जाता है। अतएव कोई भी व्यक्ति अगले क्षण में नष्ट हो जाने के भय से 'निर्वाण' की प्राप्ति के लिए कठोर साधना क्यों करेगा?

4. अनात्मवाद एवं क्षणिकवाद के आधार पर ज्ञान की व्याख्या का भी समाधान नहीं हो सकता। यदि आत्मा जैसी कोई नित्य सत्ता ही नहीं है तो ऐसी स्थिति में विषयों द्वारा अनुभवों का जो संश्लेषण होगा, वह संवेदन मात्र होगा और उसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता है।

5. बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद एवं क्षणिकवाद में पुनर्जन्म की समुचित व्याख्य नहीं हो पाती है; क्यों कि पुनर्जन्म के लिए नित्य आत्मा की सत्ता में विश्वास आवश्यक है।

6. अनात्मवाद में विश्वास कर्मवाद के नैतिक सिद्धान्त को अप्रासागिंक बना देता है। इसके द्वारा 'कृतप्रणाश एवं अकृताभ्युपगम' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

7. क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद में प्रत्यभिज्ञा एवं स्मृति की व्याख्या नहीं जो पाती है। बिना नित्य एवं स्थायी आत्मा की सत्ता को स्वीकार किये प्रत्यभिज्ञा एवं स्मृति की व्याख्या नहीं की जा सकती है।

3.10 निष्कर्ष

निष्कर्ष रुप में कहा जा सकता है कि क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद की आलोचना करते हुए आत्मा की नित्य सत्ता पर बल दिया। आचार्य शंकर के अनुसार किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण की सत्ता एक से अधिक क्षणों तक होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि क्षणिक तत्वों की उत्पत्ति को स्वीकार भी कर लिया जाय, तो भी बिना किसी नित्य सत्ता को स्वीकार किये इनमें संयोग नहीं हो सकता। यदि क्षणिकवाद को स्वीकार कर लिया जाय; तो निर्वाण के आदर्श को अलभ्य समझकर त्यागना पड़ेगा या निर्वाण प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील लोगों की सन्तति को असत् मानना पड़ेगा। यदि सब कुछ क्षणिक मान लिया जाएगा, तो निर्वाण भी क्षणिक होगा और बौद्ध दर्शन की सम्पूर्ण नैतिक साधना निरर्थक एवं अनावश्यक हो जाएगी। इसके अतिरिक्त आत्मा क्षणिक विज्ञानों का प्रवाह मात्र है; तो अनुभवों का संश्लेषण संभव न होगा और जो भी संवेदन होगा उसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। पुनर्जन्म की अवधारणा भी अनात्मवाद सिद्धान्त में खण्डित हो जाती है। अनात्मवाद का सिद्धान्त कर्म के सिद्धान्त को भी अप्रासांगिक बना देता है; क्योंकि बिना एक स्थायी सत्ता को माने कर्मफल की व्याख्या संभव नहीं है। अतएव यह कहा जा सकता है कि बुद्ध ने अपने क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद सिद्धान्त के द्वारा दिखाया है कि आत्मा का प्रतिक्षण पुनर्जन्म होता रहता है। बुद्ध की देशना में यद्यपि मनुष्य किन्हीं दो क्षणों में ही वहीं नहीं रहता; तथापि वह बिल्कुल भिन्न भी नहीं होता है। अतएव पुनर्जन्म एवं कर्म सिद्धान्त की बिल्कुल नयी व्याख्या प्रस्तुत करता है। परन्तु बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद अभी तक कोई समुचित समाधान नहीं प्राप्त हुआ है।

3.11 सारांश

बौद्ध दर्शन की प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त अनित्यवाद में प्रतिफलित होता है, जिसके अनुसार संसार में कुछ भी स्थायी या नित्य नहीं है। धम्मपद में स्पष्टतः कहा गया है कि– ''जो नित्य एवं स्थायी मालूम पड़ता है, वह भी विनाशी है, जो महान मालूम पड़ता है, उसका भी पतन है। जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी है। जहाँ जन्म है, वहाँ मरण भी है।'' इस प्रकार बुद्ध की देशना में 'सर्व क्षणिकम' अर्थात सब कुछ क्षणिक है। संसार केवल क्षणिक धर्मो का प्रवाह है। ये धर्म दो प्रकार के हैं– चेतन धर्म, जिसे विज्ञान कहा जाता है और अचेतन धर्म जिसे भौतिक परमाणु कहा जाता है। इन क्षणिक विज्ञानों की और इन क्षणिक परमाणुओं की अलग–अलग धाराएँ निरन्तर प्रवाहशील हैं। क्षणिक धर्मों के निरन्तर प्रवाह में पूर्वगामी क्षणिक धर्मों का उत्पाद–विनाश होता रहता है।

बुद्ध की देशना में सत् का लक्षण है– कार्योत्पादक क्षमता का होना। बुद्ध कहते हैं कि 'अर्थ क्रियाकारित्व्' अर्थात जिसमें कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति हो वही सत् है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद के कारण–कार्य–प्रवाह में निरन्तर प्रवाहमान क्षणिक धर्म ही सत् है। 'यत् क्षणिकम तत् सत्'। इस अर्थ में क्षणिक विज्ञान एवं क्षणिक परमाणु सत् है।

क्षणिकवाद का दूसरा उद्घोष है– 'सर्वं अनात्मकम्' अर्थात कोई नित्य द्रव्य नहीं है। न तो कोई 'आत्मा' या 'पुद्गल' नामक चेतन द्रव्य है और न ही कोई भौतिक पदार्थ नामक जड़ द्रव्य। वस्तुतः संसार क्षणिक विज्ञानों और क्षणिक परमाणुओं का सन्तान है। इसलिए क्षणिकवाद को 'सन्तानवाद' की भी संज्ञा दी गयी है। क्षणिकवाद 'संघातवाद' के रुप में भी जाना जाता है; क्योंकि विज्ञान एवं परमाणु मिलकर अपने संघात या समुच्चय बनाते रहते हैं।

बौद्ध दर्शन में पाँच स्कन्ध माने गये हैं–रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान। इसमें प्रथम स्कन्ध रुप भौतिक है और शेष चारों स्कन्ध मानसिक हैं। इस क्षणिक पंचस्कन्ध संघात को व्यवहार में 'पुद्गल' या 'आत्मा' कह दिया गया है और क्षणिक परमाणु संघात को भौतिक पदार्थ। हीनयान ने क्षणिक प्रवाह को समझाने के लिए नदी की जल की धारा एवं दीपशिखा के दृष्टान्त दिये हैं। जिस प्रकार नदी एक जल समूह दूसरे जल समूह के समान है; किन्तु वही नहीं है। एक दीपशिखा दूसरी दीपशिखा के समान है, किन्तु वही नहीं है। इसी प्रकार एक क्षणिक विज्ञान या परमाणु दूसरे क्षणिक विज्ञान या परमाणु के समान हैं; किन्तु बिल्कुल वहीं नहीं है। अतएव क्षणिक विज्ञानों एवं क्षणिक परमाणुओं के प्रवाह के निरन्तरता के कारण 'समानता' एवं 'एकता' का बोध केवल भ्रान्तिमात्र है। आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक ह्यूम का मत बौद्ध मत से पर्याप्त समानता रखता है; जब वे कहते हैं कि– ''हमें प्रत्यक्ष से विज्ञानधारा और इन्द्रिय–सम्वेदन धारा के अतिरिक्त किसी चेतन या जड़ द्रव्य का अनुभव नहीं होता है। तथाकथित आत्मद्रव्य और जड़द्रव्य उन विभिन्न क्षणिक विज्ञानों और इन्द्रिय संवेदनों के पुंज के अतिरिक्त कुछ नहीं है; जो अकल्पनीय वेग से एक दूसरे के बाद आते रहते हैं। और जिनके परिवर्तन तथा गति की अक्षुण्ण धारा निरन्तर बह रही है। इनमें सादृश्य, अनन्तर्य और नैरन्तर्य तो हैं; किन्तु एकतत्व, द्रव्यत्व एवं नित्यत्व नहीं है।'' परन्तु ह्यूम ने कारण–कार्यभाव का भी खण्डन कर डाला है; जबकि बौद्ध दर्शन का हीनयान सम्प्रदाय कारण–कार्य–सम्बन्ध को मान्यता प्रदान करता है। अतएव बौद्ध दर्शन का ही हीनयान सम्प्रदाय वैचारिक दृष्टि से ह्यूम के दर्शन से श्रेष्ठ है। ह्यूम के समान बौद्ध दर्शन इन्द्रियानुभाववादी नहीं है; क्योंकि वह समस्त ज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष

तक सीमित नहीं करता। बौद्ध दर्शन काण्ट के समान बुद्धि–विकल्पों की अनिवार्यता को स्वीकार करता है; क्योंकि वह समाधि में प्रकाशित निर्विकल्प प्रज्ञा को स्वीकार करता है; क्योंकि वह समाधि में प्रकाशित निर्विकल्पनीय प्रज्ञा को स्वीकार करता है; क्योंकि इसके बिना निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता।

बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद सिद्धान्त को नैरात्मवाद भी कहा जाता है। बौद्ध दर्शन में रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान के क्षणिक पंच स्कन्ध संगात को 'पुद्गल' या 'आत्मा' कहते है और क्षणिक परमाणु संघात को भौतिक पदार्थ। ये दानों संघात इसलिए अनात्म हैं; क्योंकि इनकी नित्य एवं स्थायी सत्ता नहीं है। बुद्ध कहते हैं कि हम जिसे आत्मा कहते हैं; वह क्षणिक विज्ञानों का प्रवाहमात्र है जो निरन्तर परिवर्तनशील है।

3.12 बोध प्रश्न

1. बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद प्रतीत्यसमुत्पाद का ही तार्किक विकास है?
2. बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद सिद्धान्त का विवेचन कीजिए। यह अन्य भारतीय दर्शन के आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त से किस रुप में भिन्न है?

3.13 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण– प्रो0 संगल लाल पाण्डेय
2. भारतीय दर्शन– चटर्जी एवं दत्त

****

इकाई–4

निर्वाण और बोधिसत्व का सिद्धान्त

इकाई की रुपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 बौद्ध दर्शन में निर्वाण का शाब्दिक अर्थ

4.3 बौद्ध दर्शन में निर्वाण का भेद

4.4 निर्वाण एक अनिवर्चनीय अवस्था है

4.5 बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में निर्वाण के स्वरुप की व्याख्या

4.5.1 सौतांत्रिक एवं वैभाषिक सम्प्रदाय में निर्वाण का स्वरुप

4.5.2 विज्ञानवादी एवं शून्यवादी सम्प्रदाय में निर्वाण का स्वरुप

4.6 बोधिसत्व की अवधारणा

4.7 बौद्ध दर्शन में निर्वाण का अभावात्मक एवं भावात्मक पक्ष

4.8 निष्कर्ष

4.9 सारांश

4.10 बोध प्रश्न

4.11 उपयोगी पुस्तकें

4.0 उद्देश्य

गौतम बुद्ध के दर्शन का विकास ही 'निर्वाण' हेतु हुआ था। 'निर्वाण' को ही बौद्ध दर्शन में मानव जीवन का परम लक्ष्य बताया गया है। 'निर्वाण' ही बौद्ध साधना प्रमुख उद्देश्य है। यह बौद्ध दर्शन चार आर्य सत्यों में तृतीय आर्य सत्य है। महात्मा बुद्ध ने तृतीय आर्य सत्य को 'दु:ख निरोध' के रुप में विवेचित किया था। इसलिए बौद्ध दर्शन का 'निर्वाण' दु:ख निरोध की अवस्था है। महात्मा बुद्ध संसार में दु:ख के साम्राज्य से छुटकारा दिलाने के लिए ही सम्पूर्ण मानव जाति को बौद्ध दर्शन का उपदेश दिया। यही कारण है कि बौद्ध दर्शन में 'निर्वाण' की अवस्था को प्राप्त मनुष्य को अर्हत एवं बोधिसत्व के आदर्श को अपने जीवन में साकार करना पड़ता है।

4.1 प्रस्तावना

महात्मा बुद्ध ने द्वितीय आर्य सत्य में दुःख के कारण के रुप में प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त का विवेचन किया है। महात्मा बुद्ध के दुःख के कारण की खोज का उद्देश्य दुःख से सम्पूर्ण मानव जाति को मुक्ति दिलाना था। इसीलिए महात्मा बुद्ध अपने सम्पूर्ण जीवन में दुःख से सम्पूर्ण मानव जाति के छुटकारा दिलाने में लगे रहे। महात्मा बुद्ध का यह स्पष्ट मत था कि यदि दुःख के कारण का अन्त हो जाए तो दुःख का भी अन्त अवश्य हो जायेगा। जब कारण का ही अभाव होता तो कार्य की उत्पत्ति कैसे होगी? महात्मा बुद्ध ने उस अवस्था को, जिसमें मानव सम्पूर्ण दुःखों का अन्त हो जाता है, 'दुःख निरोध' की अवस्था कही है। यह दुःख निरोध बौद्ध दर्शन का तृतीय आर्य सत्य है। भारतीय दर्शन में मानव जीवन के सवोच्च लक्ष्य के रुप में जिसे मोक्ष कहा गया है उसे ही बौद्ध दर्शन में निवार्ण की संज्ञा से अभिहित किया गया है। निर्वाण को पाली में 'निब्बान' कहा जाता है। 'निर्वाण' बौद्ध दर्शन का केन्द्रीय सम्प्रत्यय है, जिसकी प्राप्ति के ही लिए बौद्ध दर्शन चतुर्थ आर्य सत्य की स्थापना की गयी है। महात्म बुद्ध दुःखों के मूलभूत कारण के रुप में 'अविद्या' को माना है। अतएव 'अविद्या' के निरोध' से सम्पूर्ण दुःख चक्र का निरोध किया जा सकता है। इसीलिए दुःख निरोध को ही निर्वाण कहा गया है। यही दुःख निरोध ही बुद्ध के शिक्षाओं का सार है।

4.2 बौद्ध दर्शन में निर्वाण का शाब्दिक अर्थ

बौद्ध दर्शन में 'निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है, बुझ जाना या ठण्डा पड़ जाना' है। 'निर्वाण' के शाब्दिक अर्थ को दृष्टि में रखते हुए कुछ बौद्ध दार्शनिकों ने निर्वाण अर्थ जीवन के अन्त के रुप में ग्रहण किया है। इस प्रकार के बौद्ध दार्शनिकों का यह मानना है कि जिस प्रकार दीपक के बुझने या ठण्डा पड़ने से वह शान्त हो जाता है, उसी प्रकार जीवन के अन्त होने या मृत्यु होने से समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है, समस्त दुःख शान्त हो जाते हैं। इस अवस्था में पंचस्कन्धों के बने रहने की अविच्छिन्न प्रक्रिया का भी अन्त हो जाता है, परन्तु अधिकांश बौद्ध दार्शनिक महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का निहितार्थ और लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए 'निर्वाण' के इस अर्थ को स्वीकार नहीं करते हैं। यदि 'निर्वाण' का अर्थ जीवन का अन्त किया जाए तो यह कहना भी अनुचित होगा कि महात्मा बुद्ध अपने जीवन काल में 'निर्वाण' को प्राप्त किया था। अतएव अब प्रश्न यह उठता है कि निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त नहीं है, तो फिर क्या है? वस्तुतः अधिकांश बौद्ध दार्शनिकों ने 'निर्वाण' का शाब्दिक अर्थ 'बुझ जाने' या 'ठण्डा पड़ जाने' का तात्पर्य 'दुःखों के बुझने या ठण्डा पड़ने से है। गौतम बुद्ध के चार आर्य सत्यों में भी यही अर्थ उभरकर आता है। यदि प्रथम आर्य सत्य दुःखों की गहन अनुभूति कराता है, तो तृतीय आर्य सत्य में दुःखों के अन्त की ओर ही संकेत होगा, जीवन के अन्त की ओर नहीं। यही दुःखों का अन्त ही निर्वाण है। स्पष्टतः दीपक के बुझने से दुःखों के विलोप हो जाने का संकेत मिलता है और ठण्डा हो जाने से दुःखों के शान्त हो जाने का अर्थ अभिप्रेत है। अश्वघोषकृत 'सौन्दरनन्द' महाकाव्य में यह विचार व्यक्त किया गया है कि जिस प्रकार दीपक में डाले गये तेल के समाप्त हो जाने पर दीपक बुझ जाता है या ठण्डा पड़ जाता है, उसी प्रकार दुःखों के समाप्त हो जाने पर ज्ञानी पुरुष शान्त हो जाता है, बुझ जाता है, ठण्डा पड़ जाता है। इस प्रकार निर्वाण दुःखों का निरोध है। यह वह अवस्था है, जिसमें दुःखों का आत्यान्तिक अभाव होता है।

4.3 बौद्ध दर्शन में निर्वाण का भेद

बौद्ध दर्शन में निवार्ण के दो भेद प्राप्त होते हैं– 'उपाधिशेष निर्वाण और निरुपाधिशेष निर्वाण। पहले प्रकार का निर्वाण जो उपाधिशेष निर्वाण है, पूर्णता प्राप्त सन्त पुरुष को उपलक्षित करता है, जिसमें पाँचों स्कन्ध अब भी सुरक्षित हैं, यद्यपि वह इच्छा शक्ति जो जन्म धारण करने के लिए विवश करती है, लुप्त हो जाती है। वस्तुतः उपाधिशेष निर्वाण जीवन के रहते हुए ही निर्वाण को प्राप्त कर लेना है। यदि कोई व्यक्ति राग–द्वेषों पर विजय प्राप्त करके शुद्ध आचरण के साथ आर्य सत्यों का निरन्तर ध्यान करते हुए समाधि के द्वारा प्रज्ञा तक पहुँच जाता है तो उसका चित्त लोभ, मोह, राग–द्वेष से मुक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति का चित्त तृष्णा आदि सभी प्रकार के दुःखों से छुटकारा पा लेता है और वह सर्वथा मुक्त हो जाता है। 'उपाधिशेष निर्वाण प्राप्त व्यक्ति को 'अर्हत्' कहते हैं।

'निरुपाधिशेष निर्वाण' सन्त पुरुष की मृत्यु के पश्चात् एवं मृत्यु के उपरान्त सम्पूर्ण अस्तित्व के लोप की अवस्था है, जिसमें व्यक्ति वेदान्त एवं सांख्य दर्शन 'जीवन्मुक्ति' एवं 'विदेह मुक्ति' के समान है, जिसमें जीवन के रहते हुए भी 'मोक्ष' को संभव बताया गया है और 'विदेहमुक्ति' को मृत्यु के उपरान्त संभव बताया गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शन का 'निर्वाण' मरणोपरान्त अवस्था का सूचक नहीं है। यह अवस्था है जो जीवित रहते हुए पूर्णता प्राप्ति के बाद प्राप्त होती है। यह अवस्था जीवन मुक्ति की अवस्था है, जिसमें सामान्य जीवन की संकीर्ण इच्छाओं का अन्त हो जाता है और मनुष्य पूर्ण शान्ति एवं समत्व का जीवन व्यतीत करता है। जीवन्मुक्ति की अवस्था में पुनर्जन्म एवं तन्जन्य दुःखों का प्रहाण हो जाता है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति करता है। यह मनुष्य के मन के एक विशेष अवस्था का द्योतक है, जिसको प्राप्त करने वाला 'अर्हत्' कहलाता है। महात्मा बुद्ध के उपदेशों का निरन्तर चिन्तन मनन करने वाला बौद्ध अनुयायी 'निर्वाण' के इसी अवस्था को ही अपना लक्ष्य बनाता है।

4.4 निर्वाण एक अनिवर्चनीय अवस्था है

महात्मा बुद्ध ने तत्वमीमांसा प्रश्नों को 'अव्यकतानि' कहकर ऐसे प्रश्नों का उत्तर न देना ही श्रेयस्कर माना है। अतएव उन्होंने निर्वाण को भी 'अव्याक्तानि' ही माना है और निर्वाण का वाणी द्वारा निर्वचन संभव नहीं माना है और निर्वाण का वाणी द्वारा निर्वचन संभव नहीं माना गया है। निर्वाण की अवस्था अवर्णनीय अवस्था है। इसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता है कि यह है भी या नहीं। वास्तविकता यह है कि निर्वाण केवल दुःख के अन्त या दुःख से मुक्ति की अवस्था है। निर्वाण का भावात्मक वर्णन रोचक होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से व्यर्थ है। मिलिन्दपन्हों, जो बौद्ध दर्शन का एक गन्थ है, से ज्ञात होता है कि जब प्रख्यात बौद्ध भिक्षु नागसेन ने विभिन्न उपमाओं की सहायता से राजा मिलिन्दपन्हों को निर्वाण का स्वरुप समझाने का प्रयास किया, तो उसने कहा कि "निर्वाण समुद्ध की भांति गहरा है, पर्वत की भाँति ऊँचा और मधु की भाँति मधुर है इत्यादि। नागसेन ने यह भी कहा कि जिन्हें निर्वाण के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं है उन्हें उपमाओं की सहायता से निर्वाण का कोई ज्ञान नहीं कराया जा सकता। एक जन्मान्ध को उपमाओं की सहायता से रंग की कोई जानकारी नही दी जा सकती। इसीलिए समकालीन दार्शनिक डॉ0 राधाकृष्णन ने 'निर्वाण' न तो शून्य रुप है और न ही ऐसा जीवन है, जिसका विचार मन मे आ सके। यह अनन्त सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने का नाम है, यद्यपि गौतम बुद्ध प्रत्यक्षतः इसे स्वीकार

नहीं करते हैं। चूंकि यह मानव के विचार क्षेत्र के परे का विषय है। अतएव केवल निषेधात्मक शब्दों के द्वारा ही इसका वर्णन किया जा सकता है। निर्वाण आत्मा की नित्य अवस्था है, क्योंकि यह संस्कार नहीं है और न ही अस्थायी तत्वों के एकीकरण से बना है। यही वह है जो स्कन्धों के पृष्ठभूमि में विद्यमान है, जबकि स्कन्ध उत्पत्ति एवं विनाश के अधीन हैं। चूँकि यह सबका मौलिक तत्व है, अतः यह वर्णनातीत अवस्था है।

डॉ0 दास गुप्त के अनुसार लौकिक अनुभव के रुप में 'निर्वाण' का निर्वचनीय मुझे एक असाध्य कार्य प्रतीत होता है। यह एक ऐसी स्थिति है, जहाँ सभी लौकिक अनुभव निषिद्ध हो जाते हैं। इसका विवेचन भावात्मक प्रणाली से शायद ही संभव है। डॉ0 कीथ का कथन है कि ''सभी व्यावहारिक शब्द अवर्णनीय का वर्णन करने में असमर्थ हैं।''

4.5 बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में निर्वाण के स्वरुप की व्याख्या

बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में 'निर्वाण' को मानव जीवन का प्रमुख लक्ष्य माना गया है और इसे ही बौद्ध दर्शन की शिक्षाओं का सार माना गया है।इस प्रकार बौद्ध दर्शन में 'निर्वाण' को सभी सम्प्रदायों द्वारा स्वीकार किया गया है, किन्तु निर्वाण के स्वरुप को लेकर उनके विचारों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। हीनयान में 'निर्वाण' अर्हत पद है। अर्हत का दूसरों के निर्वाण से कोई प्रयोजन नहीं है। बौद्ध दर्शन की शाखा में प्रत्येक व्यक्ति अपना निर्वाण स्वंय प्राप्त करना है। बौद्ध हीनयान दर्शन महायान शाखा में निर्वाण विषयक इस दृष्टिकोण को अस्वीकार किया गया है। महायान के अनुसार 'निर्वाण' का हीनयानी आदर्श अत्यन्त स्वार्थमूलक एवं हेय है। इस शाखा (महायान शाखा) में निर्वाण बोधिसत्व होना है। बोधिसत्व केवल अपने निर्वाण से नहीं सन्तुष्ट होता है। बोधिसत्व प्राणिमात्र के दुःख निरोध से ही सन्तुष्ट होता है।

4.5.1 सौतांत्रिक एवं वैभाषिक सम्प्रदाय में निर्वाण का स्वरुप

हीनयान शाखा के सौतांत्रिक एवं वैभाषिक सम्प्रदायों में, जिन्हें सर्वास्तिवादी कहा जाता है, निर्वाण की अवस्था को अविद्या, तृष्णा उपादान एवं तज्जन्य क्लेशों के अभाव की अवस्था माना जाता है। इसमें यह स्वीकार किया जाता है कि पुद्गल के नैरात्म्य के ज्ञान से क्लेशावरण दूर हो जाता है तथा अविद्या एवं तज्जन्य तृष्णा और उपादन आदि के क्षय से क्लेश क्षय अर्थात 'निर्वाण' प्राप्त होता है। सर्वास्तिवादी में 'निर्वाण' को अच्युत, अभय, परम सुख, शान्त, अजर, अमृत, असंस्कृत, शिव आदि पदों से अभिहित किया गया है। मिलिन्दपन्हों से ज्ञात होता है कि निर्वाण आत्यान्तिक सुख है, दुःख से सर्वथा अमिश्रित अवस्था है, अवर्णनीय होने पर भी इसका लक्षणतया वर्णन संभव है। यह निर्वाण न तो उत्पन्न है, न अनुत्पन्न है और न उत्पादनीय है। यह निर्वाण धातु परम शान्ति है, परम आनन्द है, अति उत्तम है और असंस्कृत धर्म है। निर्वाण विषयक इन मान्यताओं को स्वीकार करने के बावजूद सौतांत्रिक एवं वैभाषिक सम्प्रदायों में निर्वाण के स्वरुप को लेकर मतभेद पाया जाता है। वैभाषिक निर्वाण को द्रव्य सत् मानते हैं। किन्तु सौतांत्रिक इसे अभाव स्वरुप स्वीकार करते हैं, सौतांत्रिक निर्वाण को हेतुफल

परम्परा का उच्छेद मात्र स्वीकार करते हैं, तो वैभाषिक इस उच्छेद का हेतु निर्वाण का प्रतिलाभ मानते हैं।

4.5.2 विज्ञानवादी एवं शून्यवादी सम्प्रदाय में निर्वाण का स्वरुप

निर्वाण के सम्बन्ध में महायान शाखा के विज्ञानवाद और शून्यवाद सम्प्रदायों में निर्वाण के स्वरुप को लेकर मतभेद पाया जाता है। विज्ञानवाद में वैभाषिक एवं सौतांत्रिक सम्प्रदायों के विचारों का समन्वय पाया जाता है। इसमें वैभाषिक के निर्वाण विषयक द्रव्य सत्–विचार का और सौतांत्रिक के अभावरुप विचार का समन्वय होता है। इसमें निर्वाण को बोधिलाभ तथा तथताभाव की प्राप्ति माना जाता है। विज्ञानवादियों के अनुसार निर्वाण बोधि होने के कारण सत् है, किन्तु वह द्रव्य अभाव न होकर अज्ञान का अभाव है। वह ज्ञान से अज्ञान का खण्डन है। अतएव विज्ञानवाद के अनुसार भाव और अभाव दोनों विज्ञान सत् हैं और इन दोनों का समन्वय समन्वय बोधि की अवस्था में होता है, जो निर्विकल्प ज्ञान की अवस्था है।

शून्यवाद में 'निर्वाण' को 'शून्यता' कहा जाता है। नागार्जुन ने इसे उत्पाद–निरोध, शाश्वत उच्छेद, एक–अनेक और आगम–निर्गम इन चारों द्वन्द्वों से अतीत अवस्था माना है। माध्यमिक दर्शन (शून्यवाद) निर्वाण को चतुष्टकोटि विर्निर्मुक्त, सर्वदृष्टि प्रहाण निरवशेष कल्पनाक्षय, प्रंपचोंपशम् एवं शिव कहा है। शून्यवादियों के अनुसार तात्विक दृष्टि से 'संसार एवं निर्वाण' में कोई भेद नहीं ह। जो प्रतीत्य और उपादान की दृष्टि से आवागमनरुपी संसार है, वही अप्रतीत्य और अनुपादान की दृष्टि से निर्वाण है। निर्वाण सत् असत्, सदसत्–उभयरुप और न सत् तथा न असत् अनुभयरुप, इन चार कोटियों से परे होने के कारण एक अनिवर्चनीय अवस्था है।

वास्तविकता यह है कि उपनिषदीय ऋषियों की ही भाँति महात्मा गौतम बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त व्यक्ति के स्वरुप के विषय में किसी धारणा विशेष का निषेध किया है; क्योंकि उन्होंने भी निर्वाण को वर्णनीय अवस्था माना है। वस्तुतः गौतम बुद्ध ने तत्वमीमांसीय सभी प्रश्नों पर 'अव्याकृत प्रश्नानि' कहकर मौन साध लिया था। परन्तु बौद्ध दर्शन के निर्वाण को लेकर अनेक निहितार्थ निकाले जाते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि निर्वाण प्राप्त व्यक्ति निष्क्रिय हो जाता है, किन्तु महात्मा बुद्ध के निर्वाण की प्राप्ति के पश्चात् दुःख पीड़ित मानव के लिए उत्पन्न करुणा का संचार और लोककल्याण में उनकी सन्नद्धता इस बात का द्योतक है कि निर्वाण निष्क्रिय होने की अवस्था नहीं है। महात्मा बुद्ध स्वयं निर्वाण प्राप्त कर लेने के पश्चात् किस प्रकार जीवन पर्यन्त सर्वजनहिताय परिभ्रमण, धर्मप्रचार आदि कार्यो में लगे रहे। इस प्रकार निर्वाण प्राप्त व्यक्ति केवल अपने निर्वाण से सन्तुष्ट होकर निष्क्रिय नही हो जाता है अपितु व प्राणिमात्र को निर्वाण प्राप्त कराने के लिए आजीवन प्रयासरत रहता है। बौद्ध दर्शन में यह आदर्श महायान सम्प्रदाय के बोधिसत्व की अवधारणा में दृष्टिगोचर होता है।

4.6 बोधिसत्व की अवधारणा

बौद्ध दर्शन के महायान शाखा में मानव जीवन का नैतिक आदर्श 'बोधिसत्व' को माना गया है। बोधिसत्व का शाब्दिक अर्थ है– 'एक ऐसा व्यक्ति जिसका सारतत्व पूर्ण ज्ञान है। यह वह महाप्राणी है, जो सम्बोधि प्राप्त करता है। बोधिसत्व वह है जो सभी प्राणियों को निर्वाण प्राप्त कराना चाहता है और सभी दुःखी प्राणियों को उनके दुःख से त्राण दिलाना चाहता है। बोधिसत्व का सबसे

बड़ा गुण महाकरुणा है जिसके कारण वह व्यक्तिगत निर्वाण तक ही सन्तुष्ट न रहकर दुःख से पीड़ित मानव जाति को दुःखों से मुक्त कराने में उनकी सहायता करता है। इस प्रकार बोधिसत्व के आदर्श में आध्यात्मिकता के साथ–साथ सामाजिकता का भी समावेश है।महायान के अनुसार बोधिसत्व का जीवन करुणा एवं प्रज्ञा से संचालित होता है।

महायान शाखा में बोधिसत्व के लिए परिवर्त्त का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। परिवर्त्त का सिद्धान्त अन्य लोगों के कल्याण एवं लाभ के लिए पुण्य को संचित करने का सिद्धान्त है। यह कर्मो के आदान–प्रदान का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार 'बोधिसत्व' अपने पुण्यमय कर्मो के द्वारा दूसरों को दुःख मुक्त करता है और उनके पापमय कर्मो को स्वंय भोगता है। बोधिसत्व अपने को तब तक मुक्त नहीं समझता, जब तक संसार के अन्तिम व्यक्ति की दुःख निवृत्ति नहीं हो जाती है। इससे इस बात को बल मिला कि प्राणिमात्र के दुःख निवृत्ति के लिए प्रयासरत होना ही वास्तविक धर्म है। परिवर्त्त के सिद्धान्त ने बौद्ध धर्म की कर्म की धारणा में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया। परिवर्त्त की अवधारणा में अपने पुण्यों को दूसरों को देने तथा दूसरों के पापों को स्वंय ले लेने का अद्वितीय विचार अन्तनिर्हित है, जो बौद्ध दर्शन के प्रति विशेष आकर्षण का कारण बना है। वास्तविकता यह है कि 'बोधिसत्व' को लोक कल्याण में सन्नद्ध रहने की प्रेरणा गौतम बुद्ध के आचरण से ही प्राप्त होती है। गौतम बुद्ध स्वयं 'संबोधि' प्राप्त करने के पश्चात् मानव मात्र को दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिए जीवन पर्यन्त उपदेश देते रहे और परिभ्रमण करते रहे। बुद्ध ने स्पष्ट कहा था कि– ''हे भिक्षुओं! अब तुम बहुतों के लाभ के लिए मनुष्य जाति के कल्याण के लिए हृदय में संसार के प्रति करुणा का भाव लेकर जाओ''

महायान शाखा में 'बोधिसत्व' के विकास की दस भूमियों का उल्लेख मिलता है। ये भूमियाँ हैं– प्रमुदिता, विमला, सुदुर्जया, प्रभाकारी, अर्जिष्मती, अभिमुखी, दूरगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेधा। बोधिसत्व के विकास में पहली भूमि प्रमुदिता है, जो बोधि के विचार से पहचानी जा सकती है। इसमें बोधिसत्व उन सारगर्भित संकल्पों को करता है जो आगामी मार्ग का निर्धारण करते हैं। जैसे अवलोकितेश्वर का यह संकल्प है कि वह तब तक निर्वाण स्वीकार नहीं करेगा, जब तक उसके समक्ष धूल का अन्तिम कण भी बुद्धत्व नहीं प्राप्त कर लेगा। दूसरी भूमि विमला है। अन्तर्दृष्टि के विकास के बाद हृदय पवित्र होता है और मन अहं की भ्रान्ति से मुक्त होता है। इससे आचरण शुद्ध होता है और बुद्धि पूर्वक कार्य संभव होता है। तीसरी भूमि प्रभाकारी है। इस अवस्था में जिज्ञासु में घृणा, भ्रान्ति एवं क्रोध नष्ट होता है तथा श्रद्धए करुणा, दान एवं अनासक्ति के भावों का समन्नयन होता है। इससे जिज्ञासु का मुख मंडल धैर्य एवं सहिष्णुता आदि गुणों के कारण लगता है। चौथी भूमि अर्चिष्मती या प्रकाशमयी है, इसमें बोधिसत्व अहंकार के समस्त अवशेषों को छोड़ दने के योग्य बनने के लिए अपने आप को कल्याण कारी कार्यो में प्रशिक्षित करता है। वह बोधि से सम्बन्ध रखने वाले गुणों को अपने अन्दर धारण करने और बढ़ाने में अपने चित्त को लगाता है। पाँचवी भूमि सुदुर्जया है। इसमें जिज्ञासु स्वाध्याय एवं समाधि के मार्ग पर अग्रसर होता है, जिससे वह चार आर्य सत्यों को यथार्थ रुप में ग्रहण कर सके। इसमें ध्यान एवं समाधि का आधिपत्य रहता है। बोधिसत्व के विकास की छठी भूमि अधिमुखी है। इसमें जिज्ञासु नैतिक आचरण एवं ध्यान के फलस्वरुप पराधीन उत्पत्ति एवं असारता की ओर अभिमुख होता है। यहाँ प्रज्ञा का शासन है, यद्यपि जिज्ञासु अब भी पूर्णरुपेण राग से विमुक्त नही होता, क्योंकि वह अब भी बुद्ध बनने की आकांक्षा रखता है, और

मानव जाति को दुःखों से छुड़ाने का संकल्प भी रखता है। सातवीं भूमि दूरंगमा है। वह अपने को इसमे उस ज्ञान की प्राप्ति में लगता है, जो उसे मानव मात्र की दुःख निवृत्ति के लक्ष्य को प्राप्त करने के योग्य बनाता है। आठवीं भूमि अचला है। इसमें वह विशिष्ट वस्तु के प्रति उत्सुक इच्छा से मुक्त होता है। उसके विचार विशिष्ट पदार्थों में नहीं बंधते और वह अचल हो जाता है। इसमें पदार्थ को उनके यथार्थ रुप में देखने का आधिपत्य होता है। नवीं भूमि साधुमती कहलाती है। इसमें बोधिसत्व के कर्म में स्वार्थभाव या द्वैतभाव का प्रभाव नहीं होता है। वह शान्तिपूर्ण विश्राम से सन्तुष्ट न रहकर दूसरों को धर्म का उपदेश करने लगता है। यह साधु पुरुषों की भूमि है। इसमें उसके सभी कर्म बिना किसी आकांक्षा एवं अपेक्षा के होते हैं। दसवीं भूमि धर्ममेधा है। इसमें बोधिसत्व तथागत बन जाता है।

बौद्ध दर्शन के महायान शाखा में बोधिसत्व की अवधारणा की स्वीकृति ने इसे विश्व धर्म या मानव धर्म बना दिया। बोधसत्व की अवधारणा बोधि प्राप्त पुरुष को जगत् के आध्यात्मिक कल्याणय के लिए प्राणिमात्र के दुःख निवृत्ति के लिए सतत प्रयास करते रहने के लिए उत्साहित और प्रेरित करती है। इस प्रकार बोधिसत्व की अवधारणा में निर्वाण जीवन का लक्ष्य तो बना रहता है किन्तु यह अब स्वयं साध्य न होकर दूसरो के निर्वाण के लिए प्रयत्न करने की योग्यता बन जाता है।

4.7 बौद्ध दर्शन में निर्वाण का अभावात्मक एवं भावात्मक पक्ष

समकालीन बौद्ध दर्शन के अध्येताओं ने निर्वाण को दो रुपों में ग्रहण किया है– अभावात्मक एवं भावात्मक। श्वेखात्स्की, ओल्डेनवर्ग, दा्हल आदि बौद्ध दार्शनिक निर्वाण को एक अभावात्मक अवस्था के रुप में स्वीकार करते हैं। इन विचारकों का यह कहना है कि बुद्ध निर्वाण को निरोध मात्र, अभाव मात्र मानते थे। चूँकि वे अनात्मवाद को मानते थे, इसलिए वे आत्मा जैसी किसी नित्य एवं स्थायी सत्ता को अस्वीकार करते थे। परन्तु निर्वाण को अभावात्मक रुप में स्वीकार करते हुए भी ये दार्शनिक निर्वाण को निःश्रेयस् परम कल्याण एवं अमृतपद के रुप में विवेचित किया है। अतएव निर्वाण उस प्रकार कि अभावात्मक अवस्था नहीं है जहाँ नितान्त अभाव ही हो, अपितु यह चित्त वृत्ति का निरोध या अभाव और भाव निरोध है।

समकालीन दार्शनिकों का एक वर्ग ऐसा है जो, निर्वाण को भावात्मक रुप में स्वीकार करता है। इस वर्ग के दार्शनिकों में डॉ0 राधा कृष्णन, डॉ0 पुंसे, मैक्समूलर चिल्डर्स और श्रीमती रीज डेविड्स प्रमुख रुप से उल्लेखनीय है। डॉ0 पुंसे निर्वाण को सुख, अमरत्व आदि मानते हैं। मैक्समूलर एवं चिल्डर्स ने बौद्ध दर्शन के निर्वाण विषयक स्थलों का व्यवस्थित अध्ययन करने के पश्चात् यह पाया कि– ''बौद्ध दर्शन में एक भी स्थल ऐसा नहीं पाया जाता है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि निर्वाण अभावात्मक अवस्था है। डॉ0 राधाकृष्णन एवं रीज डेविड्स ने भी निर्वाण को परम'ाक्ति एवं आनन्द के रुप में स्वीकार करते हुए इसे अभावात्मक अवस्था के रुप में मान्यता प्रदान की है।

4.8 निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शन निर्वाण न तो जीवन के कर्मो से विरत रहने की अवस्था हें नही निष्क्रिय बनने की अवस्था है; अपितु अखण्ड

समाधि द्वारा स्थायी रुप से प्रज्ञा प्राप्त हो जाने पर जीवन पर्यन्त प्राणिमात्र को निर्वाण प्राप्त कराकर के सभी प्राणियों को दु:ख से त्राण दिलाना है। बौद्ध दर्शन का यह आदर्श महायान सम्प्रदाय में बोधिसत्व की अवधारणा के रुप में संसार के सभी प्राणियों को दु:खों से मुक्ति प्राप्त कराने के लिए आश्वासन प्रदान करता है। यही कारण है कि आज भी बौद्ध दर्शन विश्व के विभिन्न भागों में आकर्षण का केन्द्र बना है।

4.9 सारांश

बुद्ध ने तृतीय आर्य सत्य में दु:ख–निरोध या निर्वाण का विवेचन किया है। द्वितीय आर्य सत्य में महात्मा बुद्ध ने अविद्या को सम्पूर्ण दु:ख का मूलकारण बताया था और तृतीय आर्य सत्य में दु:खों के मूल कारण अविद्या के निरोध के द्वारा सम्पूर्ण का निरोध किया है। दु:खों के निरोध के द्वारा दर्शन में निर्वाण कहा गया है। निर्वाण का अर्थ है– बुझ जाना या ठण्डा हो जाना। कुछ विचारकों ने 'बुझ जाने' या 'ठण्डा पड़ जाने' का अर्थ जीवन के अन्त या मृत्यु से किया है, जिसमें पंचस्कन्धों के बने रहने की अविच्छिन प्रक्रिया का भी अन्त हो जाता है। परन्तु यह अर्थ उचित नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो महात्मा बुद्ध अपने जीवन काल में ही निर्वाण प्राप्ति का दावा नहीं करते। अतएव निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त या मृत्यु नहीं माना जा सकता है। वस्तुतः बुझ जाने या ठण्डा पड़ जाने का अर्थ दु:खों ठण्डा पड़ने या दु:खों के बुझने से है। गौतम बुद्ध को निर्वाण का यही अर्थ संभवतः अभिप्रेत था। दीपक के बुझने से दु:खों के विलोप हो जाने का संकेत है और ठण्डा हो जाने से दु:खो के शान्त हो जाने का अर्थ प्राप्त होता है। अतएव निर्वाण में दु:खों का आत्यान्तिक अभाव हो जाता है।

बौद्ध दर्शन में निर्वाण के दो भेद प्राप्त होते हैं– उपाधिशेष निर्वाण एवं निरुपाधिशेष निर्वाण। उपाधिशेष निर्वाण पूर्णता प्राप्त सन्त पुरुष को उपलक्षित करता है; जिसमें सन्त पुरुष का चित्त तृष्णा आदि सभी प्रकार के दु:खों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। निरुपाधिशेष निर्वाण सन्त पुरुष के मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होता है और इसमें उसके समस्त अस्तित्व का ही लोप हो जाता है– उपाधिशेष एवं निरुपाधिशेष निर्वाण को जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति के रुप में भी जाना जा सकता है।

निर्वाण जीवन के अन्त की अवस्था नहीं है। यह पूर्ण ज्ञान एवं परम शान्ति की अवस्था है। निर्वाण के स्वरुप को लेकर बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय भिन्न–भिन्न विचार व्यक्त किये हैं। हीनयान में निर्वाण 'अर्हत्' पद है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपना निर्वाण स्वयं प्राप्त करना है। महायान के अनुसार निर्वाण का हीनयानी आदर्श अत्यन्त स्वार्थपरक एवं तुच्छ है। इसलिए महायान सम्प्रदाय निर्वाण का आदर्श बोधिसत्व माना है। बोधिसत्व स्वयं अपने निर्वाण से सन्तुष्ट नहीं होता(अपितु वह प्राणिमात्र के दु:ख निरोध से सन्तुष्ट होता है।

सर्वास्तिवादी वैभाषिक एवं सौतांत्रिक सम्प्रदाय में निर्वाण को अविद्या, तृष्णा, उपादान एवं तज्जन्य क्लेशों के अभाव की अवस्था माना जाता है। सर्वास्तिवादी में निर्वाण को अच्युत अभय, परम सुख, शान्त अमृत, संस्कृत, शिव आदि पदों से भी अभिहित किया गया है। वैभाषिक निर्वाण को निरुपण में कुछ अन्तर पाया जाता है। वैभाषिक निर्वाण द्रव्य सत् मानते हैं अर्थात निर्वाण में हेतु परम्परा के उच्छेद

का अर्थ निर्वाण का प्रतिलाभ करना है; जब सौतांत्रिक निर्वाण को अभाव रुप मानते हुए निर्वाण को हेतु फल परम्परा का उच्छेदमात्र स्वीकार करते हैं।

महायान शाखा के विज्ञानवाद एवं शून्यवाद सम्प्रदायों में भी निर्वाण के स्वरुप को परस्पर मतभेद पाये जाते हैं। विज्ञानवाद निर्वाण को बोधिलाभ या तथताभाव की प्राप्ति माना जाता है। निर्वाण बोधि होने के कारण सत् है किन्तु वह द्रव्य सत् न होकर ज्ञान सत् है। निर्वाण में जो अभाव है; वह द्रव्य का अभाव न होकर अविद्या का अभाव है। अतएव भाव एवं अभाव दोनों विज्ञान सत् है और इन दोनों का समन्वय बोधि की अवस्था में होता है जो समाधि की निर्विकल्प ज्ञान की अवस्था है।

महायान शाखा के शून्यवाद सम्प्रदाय में निर्वाण को चतुष्कोटि विनिर्मुक्त, सर्वदृष्टि प्रहाण, निरवशेष कलपनाक्षय, प्रंपच्चोपशम एवं शिव के रुप में विवेचित किया गया है। तात्विक दृष्टि से संसार एवं निर्वाणय अभिन्न हैं। क्योंकि निर्वाण प्रपंच्चशून्य है और संसार तत्वशून्य है।

आधुनिक विचारकों में भी निर्वाण के स्वरुप को लेकर दो वर्ग मिलते हैं। एक वर्ग निर्वाण को अभावात्मक अवस्था मानता है। इस वर्ग का यह मानना है कि निर्वाण चित्त निरोध एवं भाव निरोध है। यह परम निःश्रेयस्, परम कल्याण और अमृतपद है। श्वेरवात्स्की, ओल्डेनवर्ग, दाहल, डॉ0 कीथ एवं डॉ0 दास गुप्त इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं; जिन्होंने निर्वाण को परमसुख, परमशान्ति एवं अभयपद के रुप में वर्णन करते हुए इसे भावात्मक अवस्था के रुप में चित्रित किया है।

4.10 बोध प्रश्न

1. बौद्ध दर्शन के निर्वाण के सम्प्रत्यय का विवेचन कीजिए?
2. बौद्ध दर्शन के बोधिसत्व की अवधारणा की समीक्षात्मक व्याख्या कीजिए?

4.11 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण– प्रो0 संगल लाल पाण्डेय
2. भारतीय दर्शन– चटर्जी एवं दत्त

****